अध्याय - ४

"परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र"

- (अ) शास्त्रत्व सम्पादक परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र
- (इ) शास्त्रत्वावच्छिन्नोद्देश्यक अथवा बाधबीजप्रकरणस्य परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र
- (उ) तन्त्रशेष प्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

अष्टाध्यायी में साक्षात् सूत्र रूप में पठित परिभाषाओं के अतिरिक्त कतिपय सूत्र ऐसे भी हैं - जो आपाततः विधिसूत्र हैं किन्तु उनकी समीक्षा करने से उनके द्वारा परिभाषाओं के संकेत प्राप्त होते हैं। ऐसे सूत्रों को "ज्ञापक सूत्र" कहा गया है। इन सूत्रों से ज्ञापित होने वाली परिभाषाओं को "ज्ञापक सिद्ध परिभाषा" कहा जाता है। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर के प्रतिज्ञा वचन में घोषित किया है -

"प्राचीन वैयाकरणतन्त्रे वाचनिकानि अत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापक न्यायसिद्धानि भाष्य वार्तिकयोरूप निबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते।"

इसका तात्पर्य है कि परिभाषेन्दुशेखर में व्याख्यात परिभाषाएँ प्राचीन वैयाकरणों द्वारा सूत्र रूप में पठित थीं। पाणिनीय अष्टाध्यायी में ये ही परिभाषाएँ सूत्रों से ज्ञापित होती हैं। अथवा न्याय सिद्ध हैं तथा भाष्य और वार्तिकों में उपनिबद्ध हैं। आचार्यों ने इन परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया है :-

१. **वाचनिकी परिभाषा** - इसके अन्तर्गत - (अ) सूत्रसिद्ध वाचनिकी और (इ) स्वतन्त्र वाचनिकी परिभाषाएँ आती हैं।

सूत्र सिद्ध वाचनिकी का उदाहरण "निर्दिश्यमानस्यादेशाः भवन्ति" परिभाषा है। यह परिभाषा "षष्ठी स्थाने योगा" - (१.१.४९.) सूत्र से सिद्ध होती है।

स्वतन्त्र वाचनिकी परिभाषा "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" है। भाष्य में भाष्यकार ने इसे स्वतन्त्र रूप से उद्धृत किया है।

२. **न्याय सिद्ध परिभाषा** - इसके अन्तर्गत - (अ) लौकिक न्यायसिद्धा और (इ) शास्त्रीय न्याय सिद्धा परिभाषा का अन्तर्भाव है।

लोक न्याय "**यो ह्यवयवः स कदाचित्तत्रोपलभ्यते**" पर आधारित "अनेकान्ता अनुबन्धाः" आदि परिभाषाएँ पठित हैं। शास्त्रीय न्याय पर आधारित "परान्नित्यं बलवत्" इत्यादि परिभाषाएँ पठित हैं। "अक्लृप्ताभावस्य अभाव कल्पनापेक्षयाक्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनमुचितम्" इस लाघव मूल शास्त्रीय न्याय पर यह आश्रित है।

३. **ज्ञापक सिद्धा परिभाषाएँ** - तृतीय भेद ज्ञापक सिद्ध परिभाषाओं का है। पाणिनीय सूत्रों से ज्ञापित होने वाली परिभाषाएं इस वर्ग में हैं। प्रकृत अध्याय में ये परिभाषाएं पाणिनीय सूत्र से किस प्रकार ज्ञापित होती हैं ? इनके ज्ञापन से सूत्रकार का परिभाषा के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है ? - इसकी समीक्षा की गई है।

(अ) शास्त्रत्व सम्पादक परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

अनेकाल शित् सर्वस्य
(१.१.५५)

यह स्वयं एक परिभाषा सूत्र है, जिसकी विस्तृत व्यवस्था अध्याय - २ में की गई है। इस सूत्र में पठित शित् ग्रहण के द्वारा एक और व्याख्या की ओर संकेत किया गया है, जिसे नागेश ने ज्ञापक कहा है। शित् का तात्पर्य शकार इत् संज्ञक है। जिसमें ऐसा आदेश जो निश्चित ही अनेक अलों वाला होगा अतः अनेकाल् से उसका ग्रहण हो ही जाएगा। किन्तु सूत्रकार शित् ग्रहण करके यह ज्ञापित करना चाह रहे हैं कि शकारेत् संज्ञक आदेश श् के कारण अनेकाल् नहीं होता। इसी आधार पर नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर में "नानुवन्धकृतमनेकाल्त्वम्" परिभाषा पठित की है।

इस परिभाषा का उदाहरण "अर्वण स्त्रसावनञः" - (६.४.१२७.)सूत्र से कहा गया तृ आदेश अर्वन् शब्द को सर्वादेश नहीं होता अपितु अलोऽन्त्यस्य के अनुसार अन्तिम न के स्थान पर होता है। तृ आदेश अनेक अल् वाला प्रतीत होता है किन्तु उसका ऋ इत् संज्ञक होने के कारण प्रकृत परिभाषा से वह अनेकाल् नहीं माना जा सकता।

❀❀❀

उदीचां माङो व्यतिहारे
(३.४.१९)

यह विधि सूत्र है जिसका आशय है - उदीच्य आचार्यो के मत में व्यतिहार अर्थ में माङ् को क्त्वा प्रत्यय होता है। इस सूत्र में सूत्रकार माङः पद का उच्चारण करते हैं धातु पाठ में पठित मेङ् धातु को आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व कर माङ् पढ़ा गया है। वस्तुतः मेङ् में जब तक ङ् अनुबन्ध स्थित है तब तक मेङ् को एजन्त नहीं कह सकते एजन्त न होने से आदेचः० सूत्र से ए के स्थान पर आत्त्व नहीं हो सकता। किन्तु सूत्रकार ङ् अनुबन्ध की उपस्थिति में भी ए को आत्त्व करते हैं इससे यह ज्ञापित होता है कि अनुबन्ध की उपस्थिति से धातु के एजन्तत्व का विधान नहीं होता। इस अर्थ में नागेश भट्ट "नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्" परिभाषा ज्ञापित करते हैं। इस ज्ञापित परिभाषा के फलस्वरूप अवदातं मुखम् आदि प्रयोगों में दैप् धातु को आत्त्व होकर दाप् रूप प्राप्त होता है और "दाधाघ्वदाप्" - (१.१.२०.) सूत्र से दाप् को घु संज्ञा का निषेध होकर अवदा + क्त में अच उपसर्गात्तः - (७.४.४७.) सूत्र से आलोप होकर अवत्तम् रूप बन जाता है। प्रकृत ज्ञापित परिभाषा के बल से दाप् को किया गया घु संज्ञा का निषेध दैप् को होकर दैप् से निष्पन्न अवदातम् रूप में अच उपसर्गात्तः सूत्र की प्रवृत्ति बाधित हो जाएगी। अच उपसर्गात्तः का आशय है - अजन्त उपसर्ग से पेर घु संज्ञक दा धातु के अच् को त होता है तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।

❀❀❀

ददातिदधात्योर्विभाषा
(३.१.१३९)

इस विधि सूत्र से दा और धा धातु को विकल्प से श प्रत्यय विहित है। यह प्राप्त विभाषा है। "श्याद्व्यधा०" - (३.१.१४१.)सूत्र से आकारान्त धातुओं का विहित ण प्रत्यय की इनमें प्राप्ति है, किन्तु (विभाषा पद के सामर्थ्य से) अपवाद सूत्र ददातिदधात्यो० से श प्रत्यय विहित है। विभाषा पद के सामर्थ्य से यह श प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः दा और धा धातुओं को श और ण दोनों प्रत्यय हो सकते हैं। वस्तुतः ण और श प्रत्यय आपाततः असमान प्रतीत हो रहे हैं, अतः "वासरूपोऽस्त्रियाम्" - (३.१.९४.) सूत्र के अनुसार इसे विकल्प प्राप्त ही था किन्तु सूत्रकार प्रकृत सूत्र में विभाषा शब्द का ग्रहण करते हैं, जो इसका प्रमाण है कि वे किसी नियम या व्यवस्था का संकेत कर रहे हैं। परिभाषेन्दुशेखर में यही नियम "नानुबन्धकृतमसारूप्यम्" द्वारा निर्दिष्ट है।

इस का अभिप्राय है कि अनुबन्धों के कारण प्रत्ययों में असमानता नहीं आती। इसीलिए ण और श प्रत्ययों में ण् और श् अनुबन्ध हैं। इनके कारण ये प्रत्यय असमान नहीं कहे जा सकते। दोनों में अ ही शेष रहता है। अतः दोनों प्रत्यय सरूप हैं, इनमें वैकल्पिक बाधकता नहीं मानी जा सकती। ण औत्सर्गिक है श प्रत्यय अपवाद है, जो ण का नित्य बाध करता है।

दा और धा धातु में दोनों अभीष्ट होने से सूत्रकार को विभाषा पद पढ़ना आवश्यक है।

❀❀❀

संख्यायाः अतिशदन्तायाः कन्
(५.१.२२)

संख्यावाचक शब्दों के अन्त में ति या शत् हो तो संख्या वाचक से कन् प्रत्यय नहीं होता। यहाँ संख्या पद कृत्रिम अर्थ का वाचक नहीं है। शास्त्र के नियमानुसार **"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्"** - अर्थात् शास्त्र में कोई शब्द कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों अर्थो का वाचक हो तो शास्त्रीय कार्य करते समय कृत्रिम अर्थ का ही ग्रहण होता है। जैसे - संख्या शब्द से एक, द्वि, त्रि आदि अकृत्रिम अर्थो का बोध भी होता है और "बहु गण वतुडति संख्या०" सूत्र से बहु, गण, वतु प्रत्ययान्त और डति प्रत्ययान्त इस कृत्रिम अर्थ का भी ग्रहण होता है। उपर्युक्त न्याय के अनुसार संख्या शब्द कृत्रिम अर्थ का अर्थात् बहु, गण, वतु और डति प्रत्ययान्त का बोधक होगा और इस प्रकार कोई संख्या वाचक शब्द ति या शदन्त उपलब्ध नहीं होगा। अतः त्यन्त और शदन्त संख्यावाचक को कन् का निषेध करना व्यर्थ है। यह व्यर्थता और त्यन्त तथा शदन्त संख्या का निषेध इस का ज्ञापक है कि - व्याकरण शास्त्र शब्दों से कभी कृत्रिम अर्थ का, कभी अकृत्रिम अर्थ का या कभी दोनों अर्थो का ग्रहण होता है। इसीलिए "कर्तरिकर्मव्यतिहारे०" में कर्म का अकृत्रिम अर्थ (क्रिया) है, "शब्दवैर कलहाभ्रकण्व मे घेभ्यः करणे०" - (३.१.१७.) में करण का अकृत्रिम अर्थ (क्रिया) वाच्य है। "तस्य परमाम्रेडितम्०" - (८.१.२.) में आमेडित पद केवल कृत्रिम अर्थ का ही वाचक होगा।

❀❀❀

स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते
(४.२.१५)

सूत्र में शयितरि पद में शीङ् धातु के ईकार को सार्वधातुकार्धधातुकयोः से गुण और एचोऽयवायावः से अयादेश करने पर शयितृ शब्द की सप्तमी एकवचन में शयितरि रूप सिद्ध होता है। यहाँ शीङ् धातु ङित् होने पर भी सूत्रकार ने ईकार को गुण किया है - इससे ज्ञापित होता है कि किसी कार्य का स्थानी उस कार्य की कर्तव्यता में स्वयं निमित्त नहीं हो सकता। नागेश के शब्दों में - **"कार्यमनुवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते।"** सूत्रकार ने क्ङिति च सूत्र के द्वारा कित् या ङित् के परे गुण का निषेध किया है, किन्तु शीङ् में ङित् होने पर भी गुण कार्य करके शयितरि पद का प्रयोग करते हैं, जो उपर्युक्त परिभाषा को संकेतित करता है।

इस परिभाषा में यह ध्यातव्य है कि परिभाषा में कार्यी से तात्पर्य सम्पूर्ण स्थानी से नहीं है अपितु जितने अंश में कार्य हो रहा है उतना अंश ही कार्यी है वही उस कार्य की सम्पन्नता निमित्त नहीं बन सकता।

उदाहरणार्थ - उर्णुनविषति में उर्णु + इस् यह सन्नन्त प्रकृति है - इसमें सन्यङोः सूत्र से द्वित्व प्राप्त है यदि उर्णु + इस् सम्पूर्ण प्रकृति या कार्यी के एक अंश इस् को निमित्त न मानें तो द्विर्वचनेऽचि सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी।

वस्तुतः समवायिकरण और निमित्त कारण भिन्न - भिन्न ही होते हैं, यह तथ्य लोक में व शास्त्र में सर्व विदित ही है, अतः प्रकृत परिभाषा के लिए पाणिनि के सूत्र की ज्ञापकता आवश्यक नहीं है। भाष्यकार भी इसे लोक न्याय से ध्वनित किया है। (सूत्र द्विर्वचनेऽचि का भाष्य)

❀❀❀

ज्यदादीयसः
(६.४.१६०)

ज्यादादीयसः सूत्र में आत् ग्रहण से **"भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न"** यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

ज्यादादीयसः सूत्र से ज्य पर ईयस् आने पर ई के स्थान पर आकार आदेश होकर ज्य + आयस् = ज्यायस् - यह इष्ट रूप सिद्ध होता है।

प्रकृत सूत्र में ज्याद ईयस कहने से भी ईयस् के ई के स्थान पर अन्तरतम् आ आदेश अन्यथा सिद्ध था। क्योंकि ज्य + ईयस् में ज्य के परे ईयस् के ई के स्थान पर अणुदित्० की सहायता से

दीर्घ आकार हो ही जाता। उसके लिए सूत्र में ज्यादात् कहने की आवश्यता नहीं थी। किन्तु सूत्रकार सूत्र में आत् का ग्रहण करके यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि विधीयमान ह्रस्व अ से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। इसी आधार पर परिभाषाकारों ने "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहण न" परिभाषा का आरम्भ किया है। - (७.२.१०२.)

इस परिभाषार्थ की क्रियान्विति "त्यदादीनामः" आदि सूत्रों में परिलक्षित होती है। इदम इमम् इत्यादि प्रयोगों में त्यदादीनामः से इदम् के म को अ आदेश अतो गुणे से पर रूप होकर इद + अम् में दश्च सूत्र से द को म और अमि पूर्व से पूर्वरूप होकर इमम् रूप सिद्ध होता है। यदि प्रकृत परिभाषा न होती तो इदम् के मकार के स्थान पर, मवर्ण अनुनासिक होने के कारण अनुनासिक अकार आदेश की आपत्ति हो जाती।

इस परिभाषा का संकेत "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" - सूत्र के अप्रत्यय पद से भी प्राप्त हो जाता है। इसकी विस्तृत चर्चा परिभाषा खण्ड में की गई है।

❀❀❀

दिव उत् - ऋत - उत्
(४.२.१५) (६.१.१११)

इन सूत्रों का तपरकरण **"भाव्यभावोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति"** - परिभाषा का ज्ञापक है। इन सूत्रों के उ को तपरकरण होने के कारण "तपरस्तत्कालस्य" - सूत्र के द्वारा ह्रस्व उकार का ग्रहण ही होता है। वस्तुतः सूत्रकार जब भाव्यमान या विधीयमान से सवर्णों का ग्रहण नहीं होने का संकेत पूर्व परिभाषा के ज्ञापक सूत्र में दे चुके हैं, तब इस उ को तपरकरण व्यर्थ है, किन्तु व्यर्थत्वात् यह ज्ञापित होता है कि भाव्यमान उकार सवर्णो का ग्रहण करता है यदि कहीं उकार से सवर्णो का ग्रहण अभीष्ट नहीं है तो तपरकरण किया जाए।

विधीयमान उकार में सवर्ण ग्रहण का सामर्थ्य है इसीलिए अमू इत्यादि उदाहरणों में अदस् + औ में त्यदादीनामः और अतो गुणे सूत्र प्रवृत्त कर अद + और में वृद्धि होकर (वृद्धिरेचि) अदौ रूप बनता है। यहाँ अदसोसेर्दादुदोमः से द के स्थान पर म और औ के स्थान पर दीर्घ ऊ होकर अमू रूप सिद्ध होता है। यदि सूत्र पठित ह्रस्व उकार से दीर्घ ऊकार का ग्रहण न होता तो औ के स्थान पर ह्रस्व उ होकर अमु - यह विकृत रूप सिद्ध हो जाता।

अतः सूत्रकार को यह परिभाषा अभीष्ट होगी।

अतः कृ कमि कंस कुम्भपात्र कुशा कर्णीष्वनव्ययस्य
(८.३.४६)

कैयटादि के मत से यह सम्पूर्ण सूत्र **"उणादयो ऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि"** - इस परिभाषा का ज्ञापक है। प्रकृत सूत्र में कमि शब्द का ग्रहण है तब पुनः उसी कमि शब्द से निष्पन्न कंस शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि कंस शब्द में कम् धातु से उणादि का स प्रत्यय है, अतः कमि से कंस का ग्रहण हो सकता है किन्तु सूत्रकार कंस का पृथक् ग्रहण करते हैं, जिससे ज्ञापित होता है कि कंस शब्द स्वतन्त्र प्रकृति है। उणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानना चाहिए।

आचार्य शाकटायन यद्यपि सभी प्रातिपदिकों को व्युत्पन्न मानते हैं। पाणिनि को उणादि प्रातिपदिकों के विषय में अव्युस्पति पक्ष ही मान्य है।

❀❀❀

हृदयस्य हृल्लेखयदण् लासेष्विति
(६.३.५०)

इस सूत्र में पठित लेख शब्द **"उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय ग्रहणे न तदन्त ग्रहणम्"** - परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र में अण् प्रत्यय का उल्लेख है, इससे अण् प्रत्ययान्त का ग्रहण अन्यथा सिद्ध है, अतः अण्णन्त लेख शब्द का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, किन्तु सूत्रकार इसके द्वारा यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि उत्तर पदाधिकार में प्रत्यय से प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता। प्रत्यय केवल प्रत्यय का ही बोधक होता है। इसीलिए कुमारी ब्राह्मणीरूपा इत्यादि उदाहरणों में "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्यानेकाचो ह्रस्वः" - सूत्र से कुमारी को ह्रस्व नहीं होता। अन्यथा रूपप् प्रत्यय से रूपप् प्रत्ययान्त ब्राह्मणिरूपा शब्द परे रहते कुमारी में ह्रस्व की प्रवृत्ति हो जाती और कुमारि ब्राह्मणीरूप यह अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। प्रकृत सूत्र में अण् और लेख के पृथक् - पृथक् उल्लेख से संकेतित परिभाषा के द्वारा "घरूपकल्प०" सूत्र उत्तर पदाधिकार में पठित होने से कुमारी के अन्तिम ईकार को ह्रस्व नहीं होता।

❀❀❀

सुप्तिङन्तं पदम्
(१.४.१४)

प्रकृत सूत्र में "सुप्तिङ् पदम्" कहने पर भी प्रत्यय के द्वारा प्रत्ययान्त का ग्रहण होकर "सुबन्तं तिङन्तं च पद संज्ञं स्यात्" - यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है। किन्तु सूत्रकार को यह नियम

ज्ञात रहा होगा कि संज्ञा विधायक सूत्रों में पठित प्रत्यय से प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता अर्थात् **"संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्त ग्रहणं नास्ति"** - इस परिभाषा से वे अवगत थे। अतः प्रकृत सूत्र में अन्तः शब्द का ग्रहण करना पड़ा। इस परिभाषा के कारण ही "तरप् तमपौ घः" सूत्र से विहित घ संज्ञा तरबन्त और तमबन्त को नहीं होती। अन्यथा यदि प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से तरबन्त और तमबन्त की ध संज्ञा होती तो गौरी ब्राह्मणितरा इत्यादि उदाहरणों में गौरी शब्द से परे तरबन्त ब्राह्मणितरा शब्द आने पर गौरी के अन्त्य ईकार को ह्रस्व की प्रसक्ति (घरूपकल्पचेलड्० - ६.३.४३.) हो जाती और अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाती।

❀❀❀

गतिरनन्तरः
(६.२.४९)

गतिरनन्तरः - (६.२.४९.) सूत्र से कर्मणि क्तान्त उत्तरपद होने पर उससे तत्काल पूर्व में विद्यमान गतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर का विधान होता है। उदाहरणार्थ -

उद् उपसर्ग का "हृतम्" इस क्तान्त पद के साथ "कुगतिप्रादयः" - (२.२.१८.) सूत्र से समास होता है और समासोत्तर "समासस्थ" - (६.१.२२३.) सूत्र से "उद्धृतम्" अन्तोदात्त सामासिक शब्द सिद्ध होता है। उद्धृतम् का पुनः अभि के साथ समास (कुगति०) करने पर "अभ्युद्धृतम्" में अभि पूर्वपद है, इसे क्तान्त उत्तर पद से पूर्व मानकर प्रकृति स्वर प्राप्त होता है जिसके बाधनार्थ सूत्र में अनन्तर ग्रहण होता है। अनन्तर ग्रहण के सामर्थ्य से क्तान्त उत्तरपद के तत्काल पूर्व में विद्यमान उद् को ही प्रकृति स्वर किया जाता है। अभि को नहीं क्योंकि "अभि" क्तान्त उत्तरपद "हृतम्" के तत्काल पूर्व में नहीं है, बीच में उद् का व्यवधान है।

सारांश "अभ्युद्धृतम्" में उद् को प्रकृतिस्वर के विधान के लिए "अनन्तरः" शब्द पठित है।

परिभाषाग्रन्थकारों ने इस प्रसङ्ग में अनन्तरः शब्द को **"कृद्ग्रहणे गतिकारक पूर्वस्यापि ग्रहणम्"** परिभाषा का ज्ञापक माना है। सूत्र पठित किसी पद को परिभाषा का ज्ञापक तभी माना जाता है, जब वह परिभाषा की अविद्यमानता में व्यर्थ प्रतीत होता है। अनन्तर पद भी परिभाषा के अभाव में व्यर्थ है। मात्र "गतिः" सूत्रारम्भ होने पर भी उद्धृतम् को आद्युदात्त विधान हो जाता। अभि के साथ उद्धृतम् का समास करने पर "गति कारकोपपदात् कृत्" - (६.२.१३९.) सूत्र से उद् का आद्युदात्तत्व यथावत् रहता। (गतिकारकोपपदात्० सूत्र का आशय है - गतिपूर्व क्तान्त शब्द कारक के बाद होने पर ही वह समास अन्तोदात्त होता है। अभि + उद्धृतम् में उद्धृतम् यह गतिपूर्वक क्तान्त शब्द अभि के उत्तर में है, कारक के नहीं। अतः प्रकृत सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति नहीं है।)

निष्कर्षतः "गतिः" सूत्र से भी उद् का आद्युदात्तत्व यथावस्थित रहता है तथापि सूत्रकार को अनन्तर ग्रहण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इससे ज्ञापित होता है कि सूत्रकार को **"कृद्ग्रहणे गतिकारक पूर्वस्यापि ग्रहणम्"** - परिभाषा स्वीकार्य होगी। प्रकृत परिभाषा से "उद्धृतम्" - यह सम्पूर्ण शब्द क्तान्त सिद्ध होता है। यदि मात्र "गतिः" सूत्रारम्भ होता तो उद्धृतम् के पर पूर्ववर्ती गतिसंज्ञक "अभि" को प्रकृति स्वर की प्राप्ति हो जाती। इसके निवारणार्थ आचार्य पाणिनि अनन्तरः शब्द का पाठ करते हैं। अनन्तर ग्रहण के सामर्थ्य से अभि को प्रकृति स्वर की निवृत्ति संभव होती है।

❀❀❀

पूर्वादिनिः, सपूर्वाच्च
(५.२.८६), (५.२.८७)

अष्टाध्यायी में सूत्रकार ने "पूर्वादिनिः" - (५.२.८६.) सूत्र से पूर्व शब्द को इनि प्रत्यय का विधान किया है और पूर्वी शब्द की सिद्धि की है। इसके अनन्तर द्वितीय सूत्र में "सपूर्वाच्च" - (५.२.८७.) कहकर "पूर्व" - शब्द के पूर्व में कोई शब्द होने पर अर्थात् पूर्वान्त शब्द से भी इनि का विधान किया है। इस प्रसङ्ग में सूत्रकार एक ही सूत्र के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्य की सिद्धि कर सकते थे। "पूर्वात् सपूर्वादिनि" इसप्रकार सूत्रारम्भ के द्वारा पूर्वान्त शब्द से इनि प्रत्यय विहित होता और व्यपदेशिवद् भाव के द्वारा केवल पूर्व शब्द से भी इनि की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु सूत्रकार ने दो पृथक् - पृथक् सूत्रों का आरम्भ करते हुए यह माना है कि एक ही सूत्र का पाठ करने पर केवल पूर्व शब्द से इनि प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि व्यपदेशिवद् भाव की प्रवृत्ति प्रातिपदिक में नहीं होती। इसी आशयं से परिभाषाकारों ने **"व्यपदेशिवद्भावो ऽ प्रातिपदिकेन"** परिभाषा का पाठ किया है। "पूर्वात् - सपूर्वादिनिः" - इस योग विभाग के द्वारा आचार्य पाणिनि भी इस परिभाषा को ज्ञापित करना चाहते हैं।

इस प्रसङ्ग में कतिपय वैयाकरणों का मन्तव्य है कि "इष्टादिभ्यश्च" - (५.२.८८.) सूत्र से इष्टादिगण पठित शब्दों को इनि प्रत्यय होता है। यदि इष्टादिगण में पूर्व शब्द का पाठ किया जाता तो पूर्व से इनि की सिद्धि हो जाती और पूर्वी आदि रूप सिद्ध हो जाते किन्तु केवल पूर्वान्त शब्दों से इनि की प्रवृत्ति न हो पाती जिसके फलस्वरूप कृतपूर्वी आदि प्रयोगों की निष्पत्ति नहीं हो पाती। इसकी निष्पत्ति के लिए सूत्रकार ने "पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च" यह योगविभाग किया है। योग विभाग सामर्थ्य से इष्टादिभ्यश्च सूत्र में सपूर्वाच्च की अनुवृत्ति होती है और कृतपूर्वी आदि रूप सिद्ध होते हैं।

सिद्धान्ततः यह प्रतिपाद्य है कि "व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन" परिभाषा पाणिनि को स्वीकार्य थी। इसका ज्ञापक प्रमाण किस सूत्र में प्राप्त होता है यह गवेषणा का विषय है। नागेश भट्ट स्पष्ट रूप से पूर्वात् सपूर्वादिनिः सूत्रों के योग विभाग को इसका ज्ञापक मानते हैं।

(पूर्वात् सपूर्वादिनिरित्येकयोग एव कर्तव्ये पृथग्योगकरणमस्याज्ञापकम्)

भूतिकार महामहोपाध्याय श्री तात्याशास्त्री पटवर्धन के शब्दों में योगविभाग (पूर्वादिनिः - सपूर्वाच्च) को परिभाषा का ज्ञापक न मानकर इष्टादि गण में पूर्व शब्द को न पढ़ते हुए "पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च" सूत्रारम्भ करना परिभाषा का ज्ञापक माना जा सकता है।

(गणे पूर्वशब्दं प्रपठ्य इष्टाद्यन्तेभ्य इनिरिति वक्तव्ये पूर्वादिनिः सपूर्वाच्चेति सूत्रकरणमस्या ज्ञापकम्)

❀❀❀

क्षियो दीर्घात्
(८.२.४६)

"क्षियो दीर्घात्" - (८.२.४६.) सूत्र में क्षियः प्रयोग के साधुत्व के सम्बन्ध में यह आशङ्का उपस्थित होती है कि इसमें इयङ् आदेश किस सूत्र से किया गया है ? सूत्रकार ने इयङ् आदेश विधायक "अचि श्नुधातुभ्रुवाम्०" - (६.४.७७.) में धातु के इकार - उकार को अच् के परे रहते क्रमशः इयङ् और उवङ् का विधान किया है। "क्षियः" प्रयोग में क्षि धातु न होकर धातु का अनुकरण वाचक शब्द है इसमें इयङ् आदेश नहीं हो सकता। तथापि आचार्य पाणिनि धातु के अनुकरण वाचक शब्द को भी धातुवत् मानकर इयङ् आदेश की अनुमति देते हैं। इससे ज्ञापित होता है कि अनुकरण वाचक शब्द भी अनुकार्य के समान अर्थात् प्रकृति के समान माना जाता है। इसी अर्थ में **"प्रकृतिवदनुकरणं भवति"** परिभाषा पठित की जाती है।

"क्षियो दीर्घात्" - (८.२.४६.) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इसका उल्लेख किया है और इसे अनित्य भी कहा है। अनित्य मानने का कारण यह है कि धातु के अनुकरण धातु मानकर इयङ् आदेश होता है। इस नियम के अनुसार धातु की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होनी चाहिए। किन्तु क्षि में इयङ् आदेश के बाद उसकी प्रातिपदिक संज्ञा भी होती है और षष्ठी एक वचन में क्षियः रूप की निष्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया से सिद्ध होता है कि "प्रकृति वदनुकरणं भवति" नियम अनित्य है। क्षि धातु के अनुकरण को अनुकार्य के समान मानकर धातु का कार्य होता है और अनुकार्य से भिन्न मानकर उसमें अधातुत्व की कल्पना से प्रातिपदिकत्व की सिद्धि भी की जाती है।

❀❀❀

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्
(१.२.६३)

प्रकृत सूत्र में "बहुवचनस्य" पद से परिभाषाकारों ने यह ज्ञापित किया है कि सभी द्वन्द्व विकल्प से एकवचनान्त अर्थात् समाहार द्वन्द्व होते हैं। **(सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति)** तिष्य नक्षत्र एक और पुनर्वसु नक्षत्र दो होते हैं। इनका द्वन्द्व समास करने पर स्वभावतः नित्य बहुवचन ही होता है।

सूत्र में पुनः "बहुवचनस्य" शब्द पठित करना व्यर्थ है। तथापि "बहुवचनस्य" के पाठ सामर्थ्य से उपर्युक्त परिभाषा ज्ञापित होती है। इसके फलस्वरूप तिष्य और पुनर्वसु का समाहार करने पर एकवचनान्त सामासिक रूप निष्पन्न होता है। उस स्थिति में प्रकृत सूत्र से द्विवचन की प्राप्ति नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि तिष्य-पुनर्वसु का समाहार द्वन्द्व समास और इतरेतर द्वन्द्व - दोनों होते हैं। समाहार द्वन्द्व में तिष्यपुनर्वसु रूप सिद्ध होता है और इतरेतर द्वन्द्व में तिष्यपुनर्वसवः निषपन्न होता है। इस बहुवचनान्त सामासिक रूप में बहुवचन के स्थान पर द्विवचन होकर "तिष्यपुनर्वसू" प्रयोग सिद्ध होता है। परिभाषा ज्ञापित होने पर "बहुवचनस्य" पद चरितार्थ हो जाता है।

परिभाषाकार इस प्रसङ्ग में यह आशङ्का प्रकट करते हैं कि बहुवचनस्य पद से परिभाषा ध्वनित होने पर भी "बहुवचनस्य" की सार्थकता सिद्ध नही होती क्योंकि "जातिरप्राणिनाम्" - (2.4.6.) सूत्र से प्राणीवाचक न होने से तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों का द्वन्द्व समाहार ही होता है - बहुवचनान्त या इतरेतर द्वन्द्व की प्राप्ति ही नहीं है। जब बहुवचन की प्राप्ति ही नहीं है तब सूत्र में बहुवचनस्य का कोई औचित्य नही है। नागेशभट्ट ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि - बहुवचनस्य पद के पाठ सामर्थ्य से सूत्रकार यह भी ध्वनित करना चाहते हैं कि "जातिरप्राणिनाम्" सूत्र वैकल्पिक है और इस प्रकार वैकल्पिक होने से अप्राणीवाचकों का द्वन्द्व समास विकल्प से इतरेतर योगरूप भी होता है।

❀❀❀

(इ) शास्त्रत्वावच्छिन्नोद्देश्यक अथवा बाधबीजप्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

वृद्भ्यः स्यसनोः
(१.३.९२)

इस सूत्र से वृत्तादि पाँच धातुओं को स्य प्रत्यय के परे रहते विकल्प से परस्मैपद होता है। इस सूत्र में विभाषा पद की अनुवृत्ति कर परस्मैपद के प्रत्ययों का विकल्प विधान किया। यदि विकल्प विधान न भी करते तो भी धातु से (वृत्तादि धातुओं से) लृट् होने पर परत्वात् रूप विकरण होकर बाद में तिबादि प्रत्यय प्राप्त थे। यहाँ पर "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" - (१.३.१२.) इस नियामक सूत्र की प्रवृत्ति सम्भव न थी क्योंकि अनुदात्तेत् धातु और लकार के बीच स्य का व्यवधान है। अतः तिबादि प्रत्ययों की प्राप्ति स्वतः सिद्ध थी। उभय विध - तिबादिप्रत्ययों की प्रवृत्ति होकर आत्मने पद और परस्मैपद के रूप (वर्तिष्यते - वतिष्यति) अन्यथा सिद्ध थे। सूत्र में विभाषा पद का ग्रहण व्यर्थ था व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि धातु से होने वाले स्य आदि विकरण की अपेक्षा लृकार के स्थान पर होने वाले तिबादि प्रत्यय बलवत्तर होते हैं। अतः वृत्तादि धातुओं को "अनुदात्त ङितः" इस नियामक से आत्मने पद के प्रत्यय प्राप्त होते हैं। अर्थात् नियामक सूत्र की प्रवृत्ति प्रथम होती है और विकरण विधायक स्यतासी० - (३.१.३३.) आदि की प्रवृत्ति बाद में होती है। इसी अर्थ में नागेश ने **"विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्"** - इस परिभाषा का उल्लेख किया है। परिभाषा ज्ञापित होने से वृत्तादि धातुओं से स्यविकरण के पूर्व नियामक सूत्र "अनुदात्त ङितः" प्रवृत्त होकर मात्र आत्मने पद की प्राप्ति होती, विकल्प से परस्मैपद की प्राप्ति न हो पाती किन्तु विभाषा पद के बल से अभीष्ट सिद्धि हो जाती है।

भाष्यकार "शतेः शितः" - (१.३.६०.) सूत्र के भाष्य में "वृद्भ्यः स्यसनोः" - (१.३.९२.) से भिन्न प्रकार की परिभाषा ध्वनित करते हैं। जिसका आशय है कि विकरण का व्यवधान होने पर भी नियामक सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है। ("विकरण व्यवधाने ऽपि नियमः प्रवर्तते।") अतः वृत्तादि में स्य विकरण की पूर्व प्रवृत्ति होने पर भी अनुदात्त ङितः इस नियामक सूत्र की प्रवृत्ति होकर आत्मने पद की प्राप्ति हो जाती है, जिसे विकल्प करने हेतु "वृद्भ्यः स्यसनोः" सूत्र में विभाषा पद सार्थक है।

❀❀❀

वाह ऊठ्
(६.४.१३२)

"विश्वौहः" रूप की सिद्धि में विश्व उपपदपूर्वक ण्वि प्रत्ययान्त वाह् का शस् प्रत्यय के परे विश्व + वाह् + शस् इस स्थिति में वाह ऊठ् सूत्र से व् को सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप होकर विश्व + उह् + शस् में "एत्येधत्यूठ्सू" - (६.१.८९.) सूत्र से वृद्धि होकर विश्वौहः रूप सिद्ध होता है। प्रकृत सूत्र के ऊठ् ग्रहण पर वैयाकरणों ने विचार किया है कि यदि ऊठ् ग्रहण न करते और केवल वाहः इतना ही सूत्र बनाते तो पूर्व सूत्र "वसोः सम्प्रसारणम्" से सम्प्रसारणम् की अनुवृत्ति होकर सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होता - भ संज्ञक वाह् को सम्प्रसारण होता है। उदाहरण स्वरूप विश्व + वाह् + शस् में व को सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप पुगन्त लघूपधस्य च से उपधा गुण होकर विश्व + ओह् + शस् में वृद्धि एकादेश होकर विश्वौहः रूप सिद्ध हो सकता था। किन्तु अन्तरङ्ग कार्य की दृष्टि में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है, इस अर्थ की **"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे"** परिभाषा की उपस्थिति के कारण सम्प्रसारण कार्य गुण की दृष्टि से बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाता और विश्व + उह् + शस् स्थिति में "आद् गुणः" - (६.१.८७.) से गुण एकादेश होकर "विश्वोहः" इस अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाती। वाह ऊठ् सूत्र में ऊठ् ग्रहण के सामर्थ्य से सम्प्रसारण असिद्ध नहीं होता। "एत्येधत्यूठ्सु" - (६.१.८९.) सूत्र से वृद्धि रूप एकादेश होकर विश्वौहः रूप की सिद्धि हो जाती है।

नागेश भट्ट ने इस परिभाषा को लोक न्याय सिद्ध भी कहा है।

❀❀❀
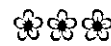
षत्वतुकोरसिद्धः
(६.१.८६)

इस सूत्र का तुग् ग्रहण **"नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व प्रक्लृप्तिः"** - परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र के अनुसार षत्व और तुक् विधि की कर्तव्यता में एकादेश असिद्ध होता है। उदाहरणार्थ - "को ऽसिचत्" इत्यादि प्रयोगों में "ओकारके बाद सिचत्" के सकार को "आदेश प्रत्यययो" - (८.३.५९.) से षत्व प्राप्त होता है। (सिच् धातु मूलतः तुदादिगण में

"षिच् क्षरणे" - इस रूप में षकारादि पठित है। उसे धात्वादेः षः से एत्व होता है। इस प्रकार सकार आदिष्ट होने से आदेश प्रत्यययोः से षत्व की प्राप्ति होती है।) प्रकृत सूत्र से षत्व की कर्तव्यता में एकादेश (पूर्वरूप एकादेश) असिद्ध होने के कारण ओकार और सकार के मध्य अकार का व्यवधान उपस्थित हो जाता है। और परिणाम स्वरूप षत्व बाधित होता है। इसी प्रकार अधीत्य इत्यादि उदाहरणों में "अधि + इ + त्वा" इस स्थिति में धातु और उपसर्ग का समास अन्तरङ्ग होने से पहले होता है। समास करने पर सवर्ण दीर्घ "अकः सवर्णे दीर्घः" - (६.१.१०१.) होकर अधी + त्वा में त्वा को त्यप् आदेश सूत्र "समासे ऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्र्यप्" - (७.१.३७.) होकर अधीय यह अशुद्ध रूप सिद्ध होता है। प्रकृत सूत्र से तुगागम की दृष्टि से सवर्णदीर्घ एकादेश असिद्ध होकर अधि + इ + त्यप् में इ को तुगागम (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् - ६.१.७१.) हो जाता है और अधीत्य आदि रूपों की सिद्धि हो जाती है।

प्रकृत सूत्र में तुगागम की दृष्टि से एकादेश को असिद्ध किया गया है जो अनावश्यक है। अधि + इ + ल्यप् में एकादेश कार्य बहिरङ्ग है तथा तुगागम अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की अपेक्षा बहिरङ्ग असिद्ध होता है। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्ग" - यह परिभाषा सूत्रकार को भी मान्य है। ("वाह उठ्" - ६.४.१३२. सूत्र के ज्ञापन से) अतः अन्तरङ्ग तुगागम पहले होगा तत्पश्चात् सवर्ण दीर्घ रूप बहिरङ्ग की प्रवृत्ति होगी तथा अधीत्य यह अभीष्ट रूप की सिद्धि होगी। सूत्र में तुक् ग्रहण व्यर्थ है। सूत्रों में यदि कोई शब्द या पद व्यर्थ प्रतीत होता है तो वह निश्चित ही किसी परिभाषा का संकेत करता है। परिभाषाकारों ने इस तुग् ग्रहण के आधार पर यह परिभाषा ज्ञापित की है कि अच् से परे किसी निमित को मानकर अन्तरङ्ग कार्य भी हो तो वह अन्तरङ्ग कार्य बहिरङ्ग को असिद्ध नहीं करता। (नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः) इसीलिए "अक्षद्यूः" आदि प्रयोगों में अक्ष + दिव् + क्विप् + सु में क्विप् के परे "छ्वोः शूडनुनासिके च" - (६.४.१९.) से व् को ऊठ् होता है। अक्ष + दिऊ + स् (क्विप् सर्वापहारि लोप होता है।) में इकोयणचि से इ को यण् होकर अक्षद्यूः रूप सिद्ध होता है। यदि यहाँ अन्तरङ्ग यणादेश की दृष्टि में बहिरङ्ग यण् को असिद्ध माना जाता तो व् को होने वाला ऊठ् असिद्ध हो जाता और यणादेश की प्राप्ति ही न होती। अतः प्रकृत परिभाषा को मानना आवश्यक है। इसकी उपस्थिति या स्वीकृति मे ही "न लोपः सुस्वर संज्ञातुग्विधिषु कृति" - (८.२.२.) सूत्र का तुग्ग्रहण चरितार्थ होता है। अन्यथा वृत्रहन् + भ्याम् में "न लोपः०" - (८.२.७.) से न लोप करने के बाद तुगागम की दृष्टि में वह बहिरङ्ग होने से असिद्ध होता और तुगागम की स्वतः ही निवृत्ति हो जाती किन्तु प्रकृत परिभाषा के कारण न लोप बहिरङ्ग होने पर भी ह्रस्व अच् के तत्काल बाद वाले क्विप् को निमित्त मानकर प्राप्त तुगागम में न लोप को असिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है। अतः उसकी असिद्धि के लिए पाणिनि को "नलोपः सुप्स्वर संज्ञा०" सूत्र का आरम्भ करना पड़ा।

꧁꧂

प्रत्ययोत्तर पदयोश्च
(७.२.८७)

"प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" - (७.२.८७.) सूत्र से "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते" परिभाषा ज्ञापित होती है। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा की अपवाद स्वरूपा यह परिभाषा है। लुक् कार्य बहिरङ्ग होने पर भी अन्तरङ्ग कार्य विधायक सूत्र का बाधक होता है। उदाहरणार्थ - गोमत् प्रियः प्रयोग में "सुपो धातु प्रतिपदिकयोः" - (२.४.७१.) से सु का लुक् प्राप्त है और "हल्ङ्याब्भ्यो०" - (६.१.६८.) से सु का लोप प्राप्त है। लुक् और लोप में लुक् कार्य बहिरङ्ग है अतः लोप के द्वारा "असिद्धं बहिरङ्गम्०" परिभाषा के बल से बाधित या असिद्ध होना चाहिए, किन्तु प्रकृत परिभाषा के कारण लुक् बाधित नहीं होता, लोप ही लुक् की दृष्टि से बाधित हो जाता है और "गौमत् प्रियः" रूप सिद्ध होता है। यदि यहाँ सु का हल्ङ्यादि० से लोप करते तो प्रत्यय लक्षण से प्रत्यय लक्षण के द्वारा सुप्त्व का अतिदेश कर "उपधादीर्घ" - (६.४.८.) "अत्वसन्तस्य०" - (६.४.१४.) की प्रसक्ति हो जाती।

सूत्रकार को प्रकृत परिभाषा स्वीकार्य रही होगी इसीलिए "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" सूत्र की आवश्यकता अनुभूत हुई। अन्यथा त्वया कृतम् = त्वत्कृतम् इत्यादि की सिद्धि के लिए प्रत्ययोत्तर० सूत्र की आवश्यकता न थी। त्वत्कृतम् में युष्मद् + टा + कृतम् स्थिति में "सुपो धातु०" - (२.४.७१.) सूत्र से प्राप्त टा प्रत्यय का लुक् पदद्वय निमित्तक होने से बहिरङ्ग है और मात्र टा को मानकर प्राप्त त्व - म आदेश ("त्वमावेकवचने" - ७.२.९७.) अन्तरङ्ग है। अतः "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" - परिभाषा के अनुसार अन्तरङ्ग कार्य प्रथम होता अर्थात् युष्म के स्थान पर त्व आदेश त्व + अद् + टा कृतम् स्थिति में सुपो धातु० सूत्र - (२.४.७१.) से टा का लुक् होकर त्वत्कृतम् सिद्ध हो सकता है। प्रत्ययोत्रपदयोश्च सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है तथापि आचार्य पाणिनि जानते थे कि टा लुक् बहिरङ्ग होने पर भी अन्तरङ्ग का बाध कर प्रथम होता है। टा का लुक् होने के बाद विभक्ति प्रत्यय सामने न होने से "त्वमावेकवचने" की प्रवृत्ति नहीं होगी और युष्म के स्थान पर त्व आदेश नहीं हो पाएगा। इसकी सिद्धि के लिए प्रत्ययोत्तरपदयोश्च चरितार्थ है।

प्रकृतप्रसङ्ग में शङ्काकार का यह कथन है कि प्रत्ययोत्तरपदयोश्च सूत्र को ज्ञापक न मानकर केवल उस सूत्र में "मपर्यन्तस्य" की अनुवृत्ति को प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक माना जा सकता है। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च सूत्र के अभाव में त्वत्कृतम् आदि तो सिद्ध हो जाएँगे किन्तु तव पुत्रः अर्थ में त्वपुत्रः प्रयोग सिद्ध नहीं हो पाएगा। यहाँ पर युष्म + अद् + पुत्रः में अन्तरङ्गत्वात् तव आदेश प्रथम हो जाएगा और विभक्ति का लुक् बहिरङ्ग होने से बाद में होगा। इस प्रकार त्वत्पुत्रः सिद्ध न होकर तवपुत्रः ही निष्पन्न होगा। इसके निवारणार्थ प्रत्ययोत्तर० सूत्र सार्थक है, अतः इसे ज्ञापक नहीं माना जा सकता। इसके स्थान पर मपर्यन्तस्य की अनुवृत्ति को ज्ञापक मान सकते हैं। उसे इस रूप में समझा जा सकता है कि "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" सूत्र "तवममौ ङसि" या "तुभ्यमह्यौ ङयि" का बाधक होने से **"उत्सर्ग समानदेशा अपवादा भवन्ति"** नियम के अनुसार तव ममादि आदेशों के समान त्व - म आदेश भी म पर्यन्त को ही होंगे। प्रत्ययोत्तर० सूत्र में पुनः मपर्यन्तस्य कहने की आवश्यकता नहीं है तथापि यदि सूत्रकार या व्याख्याकार मपर्यन्तस्य की

अनुवृत्ति करते हैं तो निश्चित रूप से वे यह ज्ञापित करते हैं कि लुक् बहिरङ्ग होने पर भी अन्तरङ्ग का बाधक होता है अर्थात् प्रथम होता है। जब विभक्ति का लुक् हो जाएगा तब प्रत्ययोत्तरपदयोश्च में "तवममौ ङसि" के प्रति अपवादत्व नहीं रहेगा। इसके फलस्वरूप "उत्सर्ग समान देशा०" न्याय भी प्रवृत्त नहीं हो पाएगा। सिद्धान्ततः मपर्यन्त को त्व - म आदेश की सिद्धि के लिए अनुवृत्ति आवश्यक है।

❀❀❀

नेन्द्रस्य परस्य
(७.३.२२)

"नेन्द्रस्य परस्य" - (७.३.२.) सूत्र वृद्धि निषेधक सूत्र है। "देवताद्वन्द्वे च" - (७.३.२१.) सूत्र से पूर्व पद और उत्तरपद के आदि अच् को ञित् कित् या णित् के परे रहते वृद्धि का विधान है। इसके अपवाद के रूप में "नेन्द्रस्य परस्य" सूत्र के द्वारा सोम + इन्द्र + अण् - स्थिति में उत्तर पद में इन्द्र शब्द रहने पर उसके आदि अच् को वृद्धि का निषेध किया गया है।

"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा को स्वीकार करने पर प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि सोम + इन्द्र + अण् में गुण एकादेश अन्तरङ्ग है और उभयपद वृद्धि बहिरङ्ग है। अन्तरङ्गत्वात् गुण एकादेश प्रथम करने पर उत्तर पद के आदि अच् का वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं है। इस प्रकार नेन्द्रस्य परस्य सूत्र से उत्तरपद में विद्यमान इन्द्र के आदि अच् को वृद्धि निषेध व्यर्थ है। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि पूर्वपद और उत्तरपद को निमित्त मानकर प्राप्त कार्य (जैसे - एकादेश आदि) अन्तरङ्ग होने पर भी बहिरङ्ग कार्य से प्रथम नहीं होता। **(पूर्वोत्तरपद निमित्त कार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोप्येकादेशो न)** नागेश भट्ट ने इसी सूत्र के आधार पर उपर्युक्त परिभाषा ज्ञापित की है। ज्ञापित होने पर सोम + इन्द्र + अण् में एकादेश अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम नहीं होता अपितु "देवता द्वन्द्वे च" - (७.३.२१.) से उभय पद वृद्धि ही पहले प्राप्त है। उत्तर पद में इन्द्र के आदि अच् को वृद्धि अभीष्ट नहीं है। अतः नेन्द्रस्य परस्य सूत्र सार्थक है।

उक्त परिभाषा में एकादेश पद सन्धिकार्य का उपलक्षण है। इसीलिए रात्रि मटति अर्थ में रात्र्यटः और रात्रिमटः दोनों रूप सिद्ध होते हैं। इस प्रयोग में रात्रि उपपद पूर्वक अट् धातु से क प्रत्यय (मूलविभूजा दिभ्य उपसंख्यानम्), रात्रेः कृति विभाषा - (६.३.७२.) से रात्रि को मुमागम करने से रात्रिभटः सिद्ध होता है। रात्रि + अट् + क स्थिति में "इकोयणचि" - (६.१.७७.) से प्राप्त यणादेश अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम नहीं होता। मुमागम रूप कार्य बहिरङ्ग होने पर भी प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से पहले होता है और रात्रिमटः रूप वैकल्पिक रूप से सिद्ध होता है। यदि पहले यणादेश करते तो उक्त रूप की सिद्धि संभव न थी।

निष्कर्षतः पूर्वोक्त परिभाषा पाणिनि सम्मत थी।

❀❀❀

अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति
(२.४.३६)

प्रकृत सूत्र से अद् धातु के स्थान पर जग्धि आदेश होता है ल्यप् प्रत्यय या कित् प्रत्यय परे रहने पर। उदाहरणार्थ - प्र + अद् + क्त्वा - स्थिति में अद् के स्थान पर जग्द आदेश और क्त्वा के स्थान पर "समासे ऽनञ्पूर्वे क्त्वोर्ल्यप्" - (७.१.३७.) सूत्र से ल्यप् आदेश होता है और प्रजग्ध्य रूप सिद्ध होता है। इस प्रसङ्ग में अदो जग्धि० सूत्र में पठित ल्यप् ग्रहण का प्रयोजन विचारणीय है। ल्यप् ग्रहण के अभाव में क्त्वा प्रत्यय के कित्व के आधार पर "अदो जग्धिर्किति" मात्र कहने से भी अद् के स्थान पर जग्धि आदेश सिद्ध हो सकता है ल्यप् ग्रहण व्यर्थ है। किन्तु सूत्र में किसी शब्द को व्यर्थ मानना युक्ति संगत नहीं है। अतः व्यर्थ होकर वह यह ज्ञापित कराता है कि प्र + अद् + क्त्वा स्थिति में क्त्वा के स्थान पर होने वाला ल्यप् आदेश बहिरङ्ग होने पर भी प्रथम होता है और जग्धि आदेश अन्तरङ्ग होकर भी बहिरङ्ग ल्यप् आदेश के द्वारा बाधित हो जाता है। इसी अर्थ में **"अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते"** - परिभाषा को ज्ञापित किया गया है। इस परिभाषा के अन्य उदाहरण प्र + धा + क्त्वा में प्रथम क्त्वा को ल्यप् आदेश हो जाता है और प्रधाय की सिद्धि हो जाती है। यदि असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे की बाधिका प्रस्तुत परिभाषा न होती तो "अन्तरङ्गत्वात्" पहले धा के स्थान पर "दधातेर्हि" - (७.४.४२.) सूत्र से हि आदेश हो जाता और बाद में क्त्वा को ल्यप् करने पर प्रहि + य में "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" - (६.१.७१.) सूत्र से तुगागम होकर "प्रहित्य" इस अनिष्ट रूप की सिद्धि हो जाती।

सूत्र में पठित "ल्यपि" ग्रहण की यही सार्थकता है। भाष्यकार ने एक श्लोक वार्तिक में उपर्युक्त अर्थ को प्रकट किया है।

जग्धौ सिद्धे ऽन्तरङ्गत्वात् तिकितीति ल्यबुच्यते
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥

❀❀❀

अभ्यासस्यासवर्णे
(६.४.७८)

सूत्रार्थ - असवर्ण अच् के परे रहते अभ्यास को इयङ् आदेश होता है। जैसे - इ धातु का लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में इ + इ + णल् की स्थिति में णल् के परे धातु को वृद्धि ("अचोञ्णिति" - ७.२.११५.) करने पर इ + ऐ + अ इ + आ + अ स्थिति में "अभ्यासस्यासवर्णे" सूत्र से अभ्यास के इ को इयङ् आदेश होकर इय् आय् अः-इयाय रूप सिद्ध होता है। प्रकृत सूत्र के औचित्य पर विचार करते हुए कतिपय वैयाकरणों का मत है कि सामान्यतः असिद्धम् परिभाषा की उपस्थिति में प्रकृत सूत्र व्यर्थ ही प्रतीत होता है क्योंकि कोई भी एकाच् धातु द्वित्व और हलादिशेष - (६.१.१८., ७.४.६०.) करने पर अभ्यास के परे असवर्ण अच् आने का प्रश्न ही

उपस्तित नहीं होता। इकारादि को द्वित्व करने पर इ + इ और उकारादि को द्वित्व करने पर उ + उ - ही दृष्टिगत होंगे, जो सवर्ण होने से इनमें सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होगी। अतः असवर्ण अच् प्राप्त ही नहीं हो सकता। यहाँ ध्यातव्य है कि सवर्णदीर्घ कार्य अन्तरङ्ग है और "अचि श्नु०" - (६.४.७७.) से प्राप्त इयङ् या उवङ् बहिरङ्ग है। अतः सवर्ण दीर्घ ही प्रथम होगा। निष्कर्षतः "अभ्यासस्यासवर्णे" सूत्र की प्रवृत्ति के लिए कहीं भी विषय नहीं है अतः सम्पूर्ण सूत्र व्यर्थ हो जाता है। किन्तु पाणिनि का कोई सूत्र व्यर्थ नहीं हो सकता। व्यर्थ प्रतीत होकर वह ज्ञापित कराता है कि अङ्गाधिकार में पठित कार्य बहिरङ्ग होने पर भी वार्णकार्यों की अपेक्षा अर्थात् सन्धि नियमों के अनुसार प्राप्त दीर्घादि कार्यो की अपेक्षा बलवान् होते हैं।

नागेश के शब्दों में **"वार्णादाङ्गं बलीयो भवति"**

परिभाषा ज्ञापित होने पर इयाय आदि रूपों में इ + इ + णल् की स्थिति में अङ्ग सम्बन्धी "अचोञ्णिति" से प्राप्त वृद्धि कार्य यद्यपि सवर्ण दीर्घ की अपेक्षा बहिरङ्ग है, तथापि परिभाषा के बल से प्रथम होता है। सवर्ण दीर्घ नहीं हो पाता और इ + ऐ + णल् में अभ्यासस्या० सूत्र से अभ्यास को इयङ्गादेश होकर तथा ऐ को आयादेश होतर इयाय रूप सिद्ध होता है।

परिभाषा ज्ञापित होने से अभ्यासस्या० सूत्र सार्थक सिद्ध हो जाता है।

❀❀❀

समर्थानां प्रथमाद् वा
(४.१.८२)

"समर्थानां प्रथमाद् वा" - (४.१.८२.) सूत्र में "पठितं समर्थानाम्" - पद से **"अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः"** - परिभाषा को ज्ञापित किया जाता है। सूत्र में समर्थानाम् पद का यह प्रयोजन है कि सूत्थित आदि प्रयोगों से सु + उत्थित में सन्धि कार्य प्रथम करने के बाद ही तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति करनी चाहिए। अन्यथा सु + उत्थित + इञ् (अत इञ् - ४.१.९५.) स्थिति में समर्थानाम् पद के सामर्थ्य से सवर्ण दीर्घ प्रथम होता है और "तद्धितेष्वचामादेः" - (७.२.११७.) से प्राप्त वृद्धि बाद में होती है तथा सौत्थितिः रूप सिद्ध होता है। इस स्थल पर समर्थानाम् पद के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इसके अभाव में भी सवर्ण दीर्घ कार्य अन्तरङ्ग और आदि वृद्धि बहिरङ्ग होने से सवर्ण दीर्घ की ही पूर्व प्राप्ति है। "समर्थानाम्" का ग्रहण करना व्यर्थ है। यही व्यर्थता इस परिभाषा का संकेत कराती है - **"अकृतव्यूहा पाणिनीयाः"** - इस परिभाषा का आशय है कि पाणिनि के अनुयायी वैयाकरणों का यह मत है कि यदि प्राप्त होने वाले बहिरङ्ग कार्य के द्वारा पूर्व में सम्पन्न अन्तरङ्ग कार्य का निमित्त नष्ट होता हो तो ऐसा अन्तरङ्ग कार्य नहीं करना चाहिए। सिद्धान्त कौमुदीकार के शब्दों में - "निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्ति।"

प्रकृत उदाहरण में सु + उत्थित + इञ् में बहिरङ्ग आदि वृद्धि के द्वारा अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ के निमित्त का नाश संभावित है। अत: अन्तरङ्ग होने पर भी सवर्ण - दीर्घ कार्य नहीं किया जाता, बहिरङ्ग कार्य ही किया जाता है। इस सामान्य नियम के अनुसार यदि बहिरङ्ग कार्य पहले करते हैं तो अनिष्ट प्रयोग की आपत्ति होती है। इसके निवारणार्थ प्रकृत परिभाषारम्भ है। इस परिभाषा का संकेत समर्थानाम् पद से प्राप्त होता है।

सिद्धान्तत: भाष्यकार ने और उसी आधार पर परिभाषाकार नागेश भट्ट ने इस परिभाषा का खण्डन किया है। भाष्यकार के अनुसार प्रकृत स्थल में "असिद्धं बहिरङ्गम्" - परिभाषा की प्रवृत्ति ही नहीं होती क्योंकि यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है जहाँ बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्य युगपत् प्राप्त है अथवा बहिरङ्ग कार्य पूर्व में हो चुका है।

"जातं तत्काल प्राप्तिकं च बहिरङ्गमसिद्धम्"

❀❀❀

दीर्घो ऽकित:
(७.४.८३)

सूत्रार्थ - अकित् अभ्यास को दीर्घ का विधान होता है। सूत्र में अकित् ग्रहण का यह प्रयोजन है कि कित् अभ्यास को दीर्घ न हो। जैसे - यंयम्यते उदाहरण में अदन्त अभ्यास को "नुगतोऽनुनासिकान्तस्य" सूत्र से नुगगम किया गया। नुगागम के कारण अभ्यास में कित्व धर्म आ जाने से दीर्घोऽकित: सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और यंयम्यते रूप सिद्ध होता है। यदि सूत्र में अकित् ग्रहण न करें तो अभ्यास को दीर्घ होकर यायंम्यते - इस अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाएगी।

परिभाषा ग्रन्थकारों ने प्रस्तुत सूत्र में पठित अकित् ग्रहण के प्रयोजन पर विचार करते हुए उसे व्यर्थ घोषित किया है। यंयम्यते आदि उदाहरणों में नुगागम करने के बाद अभ्यास अजन्त न मिलने के कारण दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं है। अत: "प्राप्तौ सत्यां निषेध:" न्याय से दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं है तो निषेध का क्या प्रयोजन ? अकित् ग्रहण की यह व्यर्थता ही **"अभ्यासविकारेषु बाध्य बाधक भावो नास्ति"** - परिभाषा को ज्ञापित कराती है।

यंयम्यते में "नुगतोऽनुनासिकान्तस्य" - (७.४.८५.) सूत्र से नुमागम और "दीर्घो ऽकित:" - (७.४.८३.) से दीर्घ - दोनों कार्यो की युगपत् प्राप्ति है। नुगागम विधायक सूत्र पर और अपवाद होने के कारण दीर्घ के पूर्व ही प्रवृत्त होता और नुगागम होने के बाद यन् अभ्यास में अजन्तत्व नष्ट हो जाने से दीर्घ की प्राप्ति ही न थी। अत: दीर्घो ऽकित: के स्थान पर केवल "दीर्घ:" सूत्रारम्भ से भी इष्ट सिद्ध हो सकता था। तथापि सूत्रकार अकित् ग्रहण करते हैं - इससे यह ज्ञापित होता है कि - अभ्यास विकारों में बाध्य-बाधक भाव नहीं होता। "नुगतोऽनुनासिकान्तस्य" और "दीर्घो ऽकित:" सूत्र अभ्यास विकार से संवद्ध है। परिभाषा के अनुसार इनमें बाध्यबाधक भाव नहीं अत: नुगत० सूत्र से अभ्यास को पहले नुमागम करने पर अभ्यास "यन्" हो जाता है।

इसके पश्चात् दीर्घ कार्य भी प्रवृत्त होकर अभ्यास को दीर्घ का विधान कर सकता है। यदि दीर्घ करते हैं तब "यायंभ्यते" - यह अनिष्ट रूप सिद्ध होता है। इसके निवारणार्थ सूत्र में अकित् ग्रहण सार्थक है।

❀❀❀

निन्दहिंसक्लिशखादविनाश परिक्षिप-परिरट् परिवादि-व्याभाषा-सूञोवुञ् (३.२.१४६)

प्रकृत सूत्र से निन्द, हिंस, क्लिश और खाद धातुओं से तच्छीलादि अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है और निन्दकः, हिंसकः, क्लेशकः और खादकः रूपों की सिद्धि होती है। इन रूपों की सिद्धि ण्वुल्तृचौ - (३.१.१३३.) सूत्र से भी संभव थी। तथापि इसकी सिद्धि के लिए पृथक् सूत्रारम्भ करते हुए सूत्रकार यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि तच्छीलादि अर्थो में वासरूपविधि नहीं होती। **(ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति)** ण्वुल् और वुञ् प्रत्ययों में अनुबन्धों के भेद से स्वरों में भेद हो सकता है यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि ण्वुल् प्रत्यय के लित् के कारण और वुञ् के ञित् के कारण स्वर स्वर संबंधी कोई भेद नहीं होता। "लिति" - (६.१.१९३.) सूत्र से लित् के परे धातु का स्वर उदात्त होता है। चूँकि निन्द, हिन्स् आदि सभी धातुएँ एकाच् हैं, अतः वही उदात्त होगा। वुञ् प्रत्यय करने पर "ञ्निर्नित्यादिर्नित्यम्" - (६.१.१९७.) सूत्र से ञिदन्त या निदन्त का आदि अच् उदात्त होता है। सारांशतः धातु का स्वर उदात्त ही रहता है। वुञ् और ण्वुल् प्रत्ययों से स्वर में कोई अन्तर नहीं आता।

निष्कर्षतः निन्दहिंस० सूत्र का आरम्भ व्यर्थ प्रतीत होता है। व्यर्थ होकर वह ज्ञापित करता है कि ताच्छील्यादि अर्थों में विहित अपवादस्वरूप तृन् इत्यादि प्रत्यय उत्सर्ग रूप ण्वुल् से असरूप होने पर भी विकल्प से बाधक नहीं होते अपितु नित्य बाधक होते हैं। अर्थात् "वासरूपो ऽस्त्रियाम्" - (३.१.९४.) सूत्र की अपवादात्मक यह परिभाषा कही जा सकती है। परिभाषा के परिणामस्वरूप निन्दहिंस इत्यादि धातुओं को तच्छीलादि अर्थो में तृन् - (३.२.१३५.) होने के बाद ण्वुल् उत्सर्ग प्रत्यय का नित्य बाध होता है और निन्दकः आदि रूपों की सिद्धि सम्भव नहीं होती। भाषा में निन्दकः, हिंसकः आदि रूपों की सिद्धि के लिए पृथक् सूत्रारम्भ करना आवश्यक है। अतः सूत्रकार ने "निन्दहिंसक्लिशखाद०" - (३.२.१४६.) सूत्र का पाठ किया है। उपर्युक्त परिभाषा को ज्ञापित करने पर ही सूत्र की चरितार्थता है।

❀❀❀

हशश्वतोर्लङ् च
(३.२.११६)

प्रकृत सूत्र में ह और शश्वत् शब्दों का प्रयोग होने पर लङ् और लिट् लकार का विधान किया गया हैं। सूत्र में विहित लङ् लकार से यह ज्ञापित होता है कि लादेशों में वासरूप विधि नही होती। "अनद्यतने लङ्" - (3.2.31.) सूत्र से अनद्यतन भूत काल के अर्थ औत्सर्गिक लङ् का विधान है। इसका बाधक सूत्र "परोक्षे लिट्" - (3.2.35.) है जिसके अनुसार परोक्ष भूत अर्थ में लिट् लकार होता है। "वासरूपोऽस्त्रियाम्" - (3.1.94.) सूत्र के अनुसार अपवाद स्वरूप लिट् असरूप होने से लङ् का विकल्प से बाधक होता है। अतः लिट् के अभाव में लङ् की स्वभावतः प्राप्ति हो जाती। प्रकृत सूत्र से पुनः लङ् का विधान करना व्यर्थ है। व्यर्थ होने से "लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति" परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है। परिभाषा के कारण ही श्वःपक्ता आदि प्रयोगों में पच् धातु से अनद्यतन भविष्य अर्थ में लुट् ("अनद्यतने लुट्" - 3.3.15.) लकार सामान्य भविष्य काल के अर्थ में विहित लृट् का नित्य बाधक होता है। यदि लकारों में वासरूप - परिभाषा प्रवृत्त होती तो लृट् लकार के स्थान पर आदिष्ट, स्यति, स्यतः, स्यन्ति और लुट् के स्थान पर होने वाले ता, तारौ, तारः में असारूप्य होने के कारण लुट् स्थानिक आदेश स्यति-स्यतः आदि आदेशों के विकल्प से बाधक हो जाते। इसके फलस्वरूप अनद्यतन भूत अर्थ में श्वः पक्ता और श्वः पक्ष्यति - इन दोनो रूपों की विकल्प से प्राप्ति हो जाती। श्वः पक्ता के स्थान पर श्वः पक्ष्यति रूप भी सिद्ध न हो जाए इस हेतु वासरूप० विधि को लादेशो में प्रतिबंधित करना आवश्यक है। **"लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति"** परिभाषा का यही फल है।

❀❀❀

(उ) तन्त्रशेष प्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र
कुमारः श्रमणादिभिः
(२.१.७०)

इस सूत्र में पठित स्त्रीलिङ्ग श्रमणा पाठ इस परिभाषा का ज्ञापक है कि - **"प्रातिपदिक ग्रहणे लिङ्ग विशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।"** - परिभाषा का तात्पर्य है - यदि किसी सूत्र में प्रातिपदिक का ग्रहण किया गया हो तो उस प्रातिपदिक से लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिक का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे - "अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्णनव्यस्य" - सूत्र में कुम्भ शब्द से कुम्भी का भी ग्रहण होकर अयः कुम्भी में विसर्ग को सत्व होता है और अयस्कुम्भी प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्रकार इस परिभाषा से परिचित थे इसीलिये कुमार श्रमणादिभिः सूत्र में श्रमणा - यह स्त्री प्रत्ययान्त शब्द पठित है। श्रमणादि गण में श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, दासी और बन्धकी ये स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द पठित हैं। प्रकृत सूत्र समानाधिकरण के अधिकार में पठित हैं। अतः स्त्रीप्रत्ययान्त श्रमणा शब्द का समानाधिकरण कुमारी के साथ ही हो सकता है। सूत्र में यद्यपि कुमारः शब्द पठित है किन्तु प्रकृत परिभाषा के बल से कुमार शब्द से कुमारी शब्द का भी ग्रहण होता है।

"ङ्याप् प्रातिपदिकात्" - (४.१.१.) सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा की कतिपय स्थानों पर अप्रवृत्ति बताई गई है। जैसे - "द्विषत् परयोस्तापेः" - (३.२.३९.) सूत्र से द्विषत् और पर उपपद होने पर तप् को खच् विहित है, यहाँ द्विषत् और पर से द्विषती और परा इन स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण अभीष्ट नहीं है अतः द्विषती + तापः में खच् न होने से द्विषती तापः और परातापः रूप ही सिद्ध होंगे। (द्रष्टव्य ङ्याप् प्रातिपदिकात् - ४.१.१. सूत्र का भाष्य)

❀❀❀

अर्धं नपुंसकम्
(२.२.२)

इस सूत्र का नपुंसक ग्रहण ज्ञापित करता है कि **"सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"** - अर्थात् सूत्र में लिङ्ग और वचन विवक्षित नहीं होंगे। लिङ्ग और वचन के बिना शब्द प्रयोग संभव नहीं, अतः सूत्र में कोई न कोई लिङ्ग और वचन प्रयुक्त करना होगा किन्तु लक्ष्य सिद्धि के समय उन लिङ्ग और वचन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिए "तस्यापत्यम्" - (४.१.९२.) सूत्र में एकवचन नपुंसकान्त निर्देश के होने पर भी स्त्रीलिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग के शब्दों से तथा द्विवचनान्त या बहुवचनान्त शब्दों से भी अपत्यार्थक प्रत्यय होते हैं। इसीलिए सुमातुः अपत्यम् सौमात्रः, क्षत्रस्यापत्यम् क्षात्रिः इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं।

अर्धं नपुंसकम् - सूत्र में नपुंसकम् पद के प्रयोग से उक्त परिभाषा ज्ञापित होती है। सूत्र में अर्धम् पद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है ही उसी से नपुंसक लिङ्ग का बोध हो सकता है, पुनः नपुंसकम् कहना व्यर्थ है। अतः व्यर्थ होकर ज्ञापित होता है कि सूत्र में उच्चरित अर्धम् पद का लिङ्ग विवक्षित नहीं है।

इसी प्रकार सूत्र प्रयुक्त वचन भी विवक्षित नहीं होते। जैसे - "गर्गादिभ्यो यञ्" से गर्गादि शब्दों से गोत्रार्थक यञ् विहित है। इसमें "गर्गस्य गोत्रापत्यम् गार्ग्यः " - यह एकवचनान्त रूप सिद्ध होता है। साथ-साथ गर्गस्य गोत्रापत्ये - गार्ग्यौ या गर्गस्य गोत्रापत्यानि गर्गाः रूप भी सिद्ध होते हैं। (बहुवचन में गर्ग + यञ् + जस् में यञिञोश्च सूत्र से यञ् का लुक् हो जाने के कारण गर्गाः रूप सिद्ध होता है।)

इस परिभाषा के कारण ही "आकडारादेका संज्ञा" - (१.४.१.) सूत्र में सूत्रकार ने एका शब्द का प्रयोग किया है अन्यथा केवल संज्ञा कहने से वचन विवक्षित न होने से एका का बोध नहीं हो सकता था।

❀❀❀

उपपदमतिङ्
(२.२.१९)

सूत्र के अतिङ् ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित होती है कि **"गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचन प्राक् सुबुत्पत्तेः"** - अर्थात् गति कारक और उपपदों का कृदन्तों के साथ जो समास होता है वह सुप् विभक्ति प्रत्यय होने के पूर्व ही होता है। जैसे - व्याघ्री, कच्छपी इत्यादि प्रयोगों में - जिघ्रति इति घः में घ्रा से क प्रत्यय करने पर घ्र इस कृदन्त से वि और आ इन गतिसंज्ञकों के साथ "कुगति प्रादयः" - (२.२.१८.) सूत्र से समास करते समय इसी प्रकार कच्छपी में पाति इति प - इस क प्रत्ययान्त प कृदन्त का कच्छेन इस उपपद के साथ उपपद समास करते समय नियमानुसार घ्र और प को अन्तरंगत्वात् विभक्ति प्रत्यय पहले प्राप्त होते हैं, इनसे भी पूर्व लिङ्ग बोधक टाप् प्रत्यय प्राप्त होता है। टाप् प्रत्यय करने के पश्चात् विभक्ति प्रत्यय होकर घ्रा और पा का क्रमशः गति और उपपद समास करने पर व्याघ्रा और कच्छपा इस प्रकार विकृत रूप सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु प्रकृत ज्ञापन के आधार पर घ्र और प में सुप् प्रत्यय तथा स्त्रीवाचक प्रत्यय के पूर्व ही गति और उपपद समास होकर व्याघ्र तथा कच्छप ये जाति वाचक अदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाते हैं, इनसे "जाते रस्त्री०" सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर व्याघ्री तथा कच्छपी रूप सिद्ध होते हैं।

"उपपदमतिङ्" सूत्र में अतिङ् पद के द्वारा सूत्रकार यह परिभाषा ज्ञापित करते हैं - प्रकृत सूत्र का आशय है कि उपपद और गति समास अतिङन्त होते हैं। इस सूत्र में "कुगतिप्रादयः" सूत्र से गति शब्द का आकर्षण होता है अतः गतिरतिङ् और उपपदमतिङ् इस प्रकार दो सूत्रो की प्राप्ति होती है। इनमें सहसुपा से सुपा की अनुवृत्ति करने से अतिङ् पद व्यर्थ हो जाता है और व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि - ये दोनो समास सुबन्त के साथ (सुपा) न होकर सुबुत्पत्ति के पूर्व अतिङन्त से होते हैं अतः इन्हे अतिङन्त समास कहा गया है।

कुछ वैयाकरण इसे अनित्य मानते हैं क्योंकि कहीं - कहीं यह समास सुबुत्पत्ति के बाद अर्थात् सुबन्त के साथ भी हो जाता है। जैसे - धनक्रीता प्रयोग में (यह प्रयोग भाष्य में पठित है।) इसमें "धनेन क्रीता" अर्थ में धनेन इस करणरूपी कारक का कृदन्त क्रीत शब्द के साथ सुबुत्पत्ति के पूर्व समास करने पर "धनक्रीत" शब्द अदन्त होने से "क्रीतात्करण पूर्वात्" - (४.१.५०.) से ङीष् की प्राप्ति हो जाएगी और धनक्रीती - यह विकृत रूप सिद्ध हो जाएगा। अतः प्रकृत परिभाषा को अनित्य मानकर धनक्रीता में सुबुत्पत्ति के बाद समास करके धनेन क्रीता - धनक्रीता समास सिद्ध हो जाता है। इस अनित्यता का ज्ञापक "अम्बाम्ब गोभूमि०" आदि सूत्र - (८.३.९७.) को माना जा सकता है। इस सूत्र में गो भूमि इत्यादि शब्दों के परे स्थ शब्द आने पर स्थ के स को षत्व कहा गया है। वस्तुतः इस सूत्र में गो - भूमि आदि शब्दों का ग्रहण न होता फिर भी गोष्ठः भूमिष्ठः में आदि में "आदेश प्रत्यययोः" - (८.३.५९.) से षत्व हो ही जाता। "सात्पदाद्योः" - (८.३.१११.) से निषेध की संभावना न थी क्योंकि प्रकृत परिभाषा से स्थ का सुबुत्पत्ति के पूर्व समास होने से स्थ पदादि न होता और सात्पदाद्योः से निषेध नहीं होता।

इस प्रकार सूत्र पठित गोभूमि आदि शब्द यह ज्ञापित करते हैं कि - कभी - कभी सुबुत्पत्ति के बाद भी समास हो जाता है।

कतिपय अन्य वैयाकरणों के अनुसार उपर्युक्त ज्ञापन अनुचित है गो भूमि इत्यादि शब्दों का ग्रहण नियमार्थ है, जो इस प्रकार है कि -समास में यदि पूर्वपद में इष् के बाद स्थ आने पर गो भूमि शब्दों के इष् का ही ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए "हृदिस्थ:" आदि प्रयोगो में षत्व नहीं होता।

इसी प्रकार "सात्पदाद्यो:" - (७.३.१११.) सूत्र में पदादि में "पदस्य आदि:" इस प्रकार षष्ठी समास न होकर पदात् आदि: पदादि: ऐसा पञ्चमी तत्पुरूष समास मानने पर गोष्ठः भूमिष्ठः आदि प्रयोगो में पद से परे स्थ के आदि सकार को षत्व की प्राप्ति नहीं होती। उसके विधानार्थ अम्बाम्ब० सूत्र में गो भूमि शब्दों का ग्रहण चरितार्थ है अत: परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक नहीं माना जा सकता।

❀❀❀

अव्यवे ऽयथाभिप्रेताख्याने कृञ: क्त्वाणमुलौ (३.४.५९)

प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र "स्वादुमिणमुल्" - (३.४.१२६.) से णमुल् की अनुवृत्ति हो सकती थी किन्तु फिर भी सूत्रकार णमुल का पुन: उच्चारण करते है जिससे यह ज्ञापित होता है कि यदि इस सूत्र में ०कृञ: क्त्वा च - इस प्रकार च के द्वारा पूर्व सूत्र से णमुल् की अनुवृत्ति करते तो च के द्वारा अनुवृत्त उस णमुल का उत्तर सूत्र " तिर्यच्यपवर्गे " - (३.४.६०.) में अनुवर्तन नहीं हो सकता था केवल क्त्वा की अनुवृत्ति हो जाती। किन्तु सूत्र में क्त्वा और णमुल दोनो पद आवश्यक होने के कारण सूत्रकार " कृञ: क्त्वाणमुलौ" कहकर णमुल का पुन: ग्रहण करते हैं। इसी आधार पर परिभाषाकारों ने **"चानु कृष्टं नोत्तरत्र"** - इस परिभाषा की कल्पना की है।

वस्तुत: यह परिभाषा सार्वत्रिक या नित्य नही मानी जा सकती क्योंकि "कर्मणि द्वितीया" - (२.३.२.) सूत्र से "तृतीया च होश्छन्दसि" - (२.३.३.) सूत्र में द्वितीया की अनुवृत्ति चकार से की गई है और इस चकारानुकृष्ट द्वितीया को आगे "अन्तरान्तरेणयुक्ते" - (२.३.४.) सूत्र में भी अनुवृत्त किया है।

"लृटि च क्लृप:" - (१.३.९३.) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने उन सभी सूत्रों में पठित चकार का प्रत्याख्यान किया है जो पूर्व सूत्र से पदों की अनुवृत्ति के उद्देश्य से पठित है। अत: प्रकृत परिभाषा भाष्य विरुद्ध सिद्ध होती है।

❀❀❀

नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूणमन्थिषु
(६.२.१४२)

इस सूत्र के अनुसार देवता द्वन्द्व में पृथिवी आदि शब्दों को छोड़कर उत्तर पद अनुदातादि होने पर दोनों पदों को प्रकृति स्वर नहीं होता। सूत्र पठित "अपृथिवीरु द्रपूषमन्थिषु" पर्युदास यह ज्ञापित करता है कि सूत्र में स्वरोद्देश्यक कार्य की कर्तव्यता में व्यंजन को अविद्यमानवत् माना जाता है। प्रकृत पर्युदास में पृथिवी रुद्र - पूषन् मन्थिन् ये सभी प्रातिपदिक व्यंजनादि होने से अनुदात्तादि तभी माने जा सकते हैं, जब आदि के व्यंजन को अविद्यमानवत् माने, अन्यथा पर्युदास व्यर्थ हो जाएगा। व्यर्थ होकर **"स्वरविधौ व्यंजनमविद्यमानवत्"** परिभाषा को ज्ञापित करताहै।

❀❀❀

यतोऽनावः
(६.१.२१३)

सूत्र का आशय है कि नौ शब्द का यत् प्रत्यतान्त रूप छोड़कर अन्य यत् प्रत्ययान्त द्वयच्क शब्दों का आदि उदात्त होता है। नाव्यम को उदात् का निषेध है। यह निषेध ज्ञापित करता है कि व्यंजन को यदि स्वर प्राप्त हो रहा हो तो वह स्वर उस व्यंजन के पूर्व अथवा परवर्ती अच् को होता है। यही अर्थ **"हल् स्वर प्राप्तौ व्यंजनमविद्यमानवत्"** परिभाषा द्वारा व्यक्त किया गया है। यदि सूत्रकार को यह परिभाषा अभीष्ट न होती तो अनावः ऐसा प्रतिषेध न करते, क्योंकि नाव्यम् में आदि वर्ण न् है जो हल् है - इसे स्व़र की प्राप्ति ही नहीं है। न् के बाद आकार स्वर है किन्तु वह आदि में नहीं है अतः उदात्त स्वर की प्राप्ति ही नहीं है तब निषेध करना व्यर्थ ही है। व्यर्थ होकर यह परिभाषा को ज्ञापित करता है तथा परिभाषा को ज्ञापित करने के बाद स्वयं चरितार्थ हो जाता है।

इस स्थल पर शंकाकार यह शंका उपस्थित करते हैं कि अनावः प्रतिषेध को परिभाषा का ज्ञापक नहीं माना जा सकता क्योंकि वह व्यर्थ नही है, उसकी चरितार्थता इस प्रकार है कि यदि अनावः ग्रहण न होता तो "यतः" - यह सूत्र होता और इस सूत्र से नाव्य की आदि नकार को स्थान साम्य से उदात्त लृकार आदेश हो जाता। इस आपत्ति के निवारणार्थ सूत्र में अनावः प्रतिषेध आवश्यक है अतः अनावः पद से परिभाषा ज्ञापित करना युक्तिसंगत नहीं है।

वस्तुतः उपर्युक्त शंका निर्मूल है क्योंकि न के स्थान पर स्थान साम्य से लृ आदेश करने पर उदात्त स्वर का निमित्त द्वयच्कत्व नष्ट हो जाएगा। लृ + आव्य में तीन अच् हो जाएंगे तथा "उपजीव्य विरोधस्यायुक्तत्वम्" इस न्याय के अनुसार उदात्त स्वर की प्राप्ति नही हो पायेगी, क्योंकि आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति का द्वयच्क रूपी यिमित नष्ट हो जाएगा। अतः आद्युदात की जब प्राप्ति ही नही है तो निषेध व्यर्थ हो जाएगा किन्तु प्रकृत परिभाषा की विद्यमानता में यह निषेध चरितार्थ हो जाता है। इस स्थल पर पुनः यह शंका हो सकती है कि तीन अचों में दो अचों का

अन्तर्भाव तो होता ही है अतः त्र्यच्क लृ नाव्य को द्वयच्क मान सकते है किन्तु यह शंका उचित नही क्योंकि "उत्तरा संख्या पूर्वा संख्यां बाधते" इस न्याय से त्र्यच्क को द्वयच्क नहीं माना जा सकता। लोक में जिस प्रकार यदि किसी व्यक्ति के तीन पुत्र हैं तो उसके दो पुत्रहैं ऐसा नही कहा जा सकता।

❀❀❀

वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ
(४.२.९)
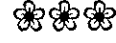
इस सूत्र में ड्य और ड्यत् प्रत्ययों को डित् किया गया है। इस डित् करण का प्रयोजन यह है कि "ययतोश्चातदर्थे"- (६.२.१५६.) सूत्र में पठित य और यत् प्रत्ययों के द्वारा ड्य और ड्यत् प्रत्ययों का ग्रहण न हो जाए। यदि प्रकृत सूत्र में डित् न करते (तो ययतोश्चातदर्थे से वामदेव्यम् या अवामदेव्यम्) अर्थात् वामदेव से य और यत् प्रत्यय का विधान करते तो ययतोश्चातदर्थे सूत्र से य + यत् उदात्त स्वर की प्राप्ति हो जाती और अवामदेव्यम् में प्रयोग अन्तोदात्त सिद्ध हो जाता। वस्तुतः अवामदेव्यम् में "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया० " (६.२.२.) सूत्र से आद्युदात्त होना चाहिए।

इस प्रकार डित् करण से सूत्रकार निम्नलिखित परिभाषाओं की ओर संकेत करते है -

१. निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य
२. तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य

प्रथम परिभाषा का तात्पर्य है कि अनुबंधरहित शब्द के द्वारा अनुबंध सहित शब्द का ग्रहण नहीं होता। जैसे - तव्य प्रत्यय के द्वारा तव्यत् का ग्रहण नहीं होता। तव्यत् - तकार अनुबन्ध का प्रयोजन "तित् स्वर" - (६.१.८५.) है।

द्वितीय परिभाषा का आशय है कि विशिष्ट अनुबन्ध युक्त शब्द के द्वारा अन्य अनुबन्ध से युक्त शब्द का ग्रहण नहीं होता। जैसे - यत् प्रत्यय से ण्यत् प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता, यद्यपि ण्यत् में भी त् अनुबन्ध है जो यत् में भी दृश्यमान है। किन्तु त् के साथ णकार भी अनुबन्ध के रूप में पठित है। इसी प्रकार अङ् प्रत्यय में ङकार अनुबन्ध है और चङ् में ङकार के साथ चकार भी अतिरिक्त अनुबन्ध है, अतः प्रकृत परिभाषा के बल से अङ् के द्वारा चङ् का ग्रहण नहीं हो सकता।

महाभाष्य में इसी आशय की एक कारिका उद्धृत की गई है -

"सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थ ययतौङित्तौ
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेवस्य नञ्स्वरे।"

प्रकृत परिभाषाओं की प्रवृत्ति प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों में होती है। इसीलिए "दिव औत्" - (७.१.८४.) सूत्र में पठित अनुबन्ध रहित दिव् प्रातिपदिक के द्वारा अनुबन्ध सहित क्विप् प्रत्ययान्त दिव् का ग्रहण नहीं होता। क्विप् प्रत्ययान्त दिव् शब्द में दिवु धातु है, जिसमें उकार अनुबन्ध है। प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से अनुबन्ध रहित दिव् प्रातिपदिक से अनुबन्ध सहित दिव् का ग्रहण नहीं होता। इसके फलस्वरूप अक्ष + दिव् + क्विप् + सु में ऊठ होकर (च्छ्वोः शूडनुनासिके च - ६.४.१९.) अक्षद्यूः रूप सिद्ध होता है। "दिव औत्" - (७.१.८४.) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्यथा व के स्थान पर औ आदेश होकर "अक्षद्यौः" - यह अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता।

❀❀❀

णचः स्त्रियाम्
(५.४.१४)

"णचः स्त्रियाम्" - (५.४.१४.) सूत्र में पठित स्त्रियाम् पद से परिभाषाकारों ने "क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते" परिभाषा ज्ञापित की है। परिभाषा का तात्पर्य है - कहीं - कहीं स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान होने पर प्रत्ययान्त शब्दों के लिङ्ग और वचन मूल प्रकृति से भिन्न हो जाते हैं, जैसे - कुटीर शब्द में "कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः" - (५.३.८८.) सूत्र से कुटी शब्द से स्वार्थ में "र" प्रत्यय किया गया है। प्रकृति के लिङ्ग और वचन के समान स्वार्थिक प्रत्ययान्त शब्दों के भी लिङ्ग और वचन होते हैं। **(स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्ग वचनान्यनुवर्तन्ते)** यह सामान्य नियम है। इस नियम के अनुसार कुटी शब्द स्त्रीलिङ्ग का है। इससे स्वार्थिक र प्रत्यय का विधान होने पर कुटीर शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोज्य है किन्तु वास्तविक रूप में कुटीरः पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त अप् शब्द से स्वार्थ में कल्यप् प्रत्यय "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" - (५.३.६७.) करने पर "ईषदूनाः आपः अप्कल्पम्" - यह नपुंसक लिङ्ग और एक वचन में प्रयोग किया जाता है। इस विसंगति की उपपत्ति के लिए प्रकृत परिभाषा की अवतारणा की है। इस परिभाषा में सूत्रकार की भी सम्मति है जो "णचः स्त्रियाम्" सूत्र में पठित स्त्रियाम् पद से ज्ञापित होती है।

"कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्" - (५.४.१३.) सूत्र से कर्मव्यतिहार अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में ही णच् प्रत्यय विहित है। णचःस्त्रियाम् सूत्र में पुनः स्त्रियाम् कहने की आवश्यकता नही है। तथापि सूत्रकार स्त्रियाम् का उच्चारण करते हैं इससे ज्ञापित होता है कि कदाचित् स्वार्थिक प्रत्यय होने के बाद प्रकृति के लिङ्ग में परिवर्तन हो जाता है। प्रकृत प्रसंग में णचः स्त्रियाम् से अञ् करते समय प्रकृति के लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग) में परिवर्तन न हो जाए एतदर्थ "स्त्रियाम्" पद का ग्रहण किया गया है। स्त्रियाम् के पाठ सामर्थ्य से अब अञ् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है।

❀❀❀
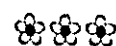
प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे
(६.२.१९३)

सूत्रार्थ - तत्पुरूष समास में "प्रति" पूर्वपद होने पर तथा अंश्वादि गणपठित शब्द चरमावयव होने पर समास अन्तोदात्त होता है। अंश्वादि गण में राजन् शब्द का पाठ यह ज्ञापित करता है कि समासान्त प्रत्ययो का विधान अनित्य है। (**"समासान्त विधि रनित्यः"**) तत्पुरूष समास में राजन् शब्द उत्तरपद होने पर "राजाहः सखिभ्यष्टच्" - (५.४.९१.) सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय चित् होने के कारण "चितः" - (६.१.१६३.) सूत्र से समास को अन्तोदात्त का विधान होता है। इस प्रकार राजन् शब्दान्त तत्पुरूष में अन्तोदात्तत्व अन्यथा सिद्ध है तथापि अंश्वादि गण में राजन् का पाठ करते हुए सूत्रकार पुनः "प्रतेरंश्वादयः" - सूत्र से उसमें अन्तोदात्तत्व के विधान की आवश्यकता मानते हैं इससे ज्ञापित होता है कि समासान्त विधियाँ अनित्य होती हैं। अर्थात् कदाचित् राजन् शब्दान्त तत्पुरुष समास में "टच् प्रत्यय" - (५.४.९१.) की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि टच् नहीं होना होता तो चितः सूत्र भी प्रवृत्त नहीं होगा। किन्तु यह समास अन्तोदात्त ही अभीष्ट है तब इसके लिए विशेष यत्न कर्त्तव्य है। अतः अंश्वादि गण में राजन् शब्द का समावेश किया गया है और इस प्रकार वह सार्थक या चरितार्थ होता हुआ प्रकृत परिभाषा (समासान्त विधिरनित्यः) का ज्ञापक सिद्ध होता है। "द्वित्रिभ्यां पाद्न्मूर्धस" - (६.२.१९७.) सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा पठित है।

❀❀❀

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्
(६.४.१५३)

"बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्" - सूत्र का छ ग्रहण **"सन्नियोग शिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपायः"** परिभाषा को ज्ञापित करता है। परिभाषा का आशय है कि, किसी सूत्र में दो कार्यो का युगपत् विधान किया गया हो और उनमें से किसी भी एक कार्य का नाश हो रहा हो तो दूसरे कार्य का भी नाश स्वाभाविक रूप से हो जाता है। जैसे "इन्द्रवरुणभवरूद्र०" - (४.१.४९.) सूत्र से इन्द्र आदि शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में आनुक् आगम और ङीष् प्रत्यय युगपत् विहित है। इस स्थिति में "पञ्च इन्द्राण्यो देवताः अस्य स पञ्चेन्द्रः!" प्रयोग में "द्विगोर्लुगनपत्ये" - (४.१.८८.) सूत्र से अण् प्रत्यय का लुक् "लुक् तद्धित लुकि" - (१.२.४९.) सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का लुक् होता है। स्त्री प्रत्यय ङीष् के साथ आनुक् का भी लोप हो जाता है क्योंकि आनुक् आगम और ङीष् प्रत्यय युगपत् विहित हैं। यदि प्रकृत परिभाषा न होती तो मात्र ङीष् का लुक् हो जाता और आनुक् आगम शेष रह जाता। इससे अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाती। इस आपत्ति के निवारणार्थ प्रकृत परिभाषा को स्वीकार करना आवश्यक है। परिभाषा के सामर्थ्य से ङीष् के लुक् के साथ आनुक् आगम का भी लुक् हो जाता है और पञ्चेन्द्रः रूप सिद्ध होता है।

पाणिनीय सूत्र "बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्" - (८.४.१५३.) में छ ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र में छ ग्रहण करने का यह प्रयोजन है कि बिल्वकादि शब्दों से "नडादीनां कुक च" - (४.२.९१.) सूत्र के द्वारा "तत्र भवः" - (४.३.५३.) आदि अर्थो में छ प्रत्यय और कुक् का आगम होता है और बिल्वाः यस्यां सन्ति सा बिल्वकीयाः प्रयोग निष्पन्न होता है। बिल्वकीय शब्द से अन्य तद्धित प्रत्यय आने पर छ प्रत्यय का लुक् प्रकृत सूत्र से विहित है। जैसे - "बिल्वकीयायां भवाः" अर्थ में पुनः "तत्र भवः" अर्थ में अण् प्रत्यय की प्राप्ति होने पर बिल्वकीय + अण् स्थिति में बिल्वकीय के छ का लुक् होता है और बैल्वकाः रूप सिद्ध होता है। इस स्थल पर छ प्रत्यय और कुगागम एक ही सूत्र (४.२.९१.) से विहित है। अतः प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होकर दोनों का युगपत लुक् प्राप्त है। किन्तु कुक् का लुक् अभीष्ट नहीं है अतः सूत्र में छ ग्रहण चरितार्थ है। "बिल्वादिभ्यः लुक्" सूत्रारम्भ करने से कुगागम सहित छ प्रत्यय का अर्थात् दोनो का लुक् हो जाता। छ ग्रहण के द्वारा सूत्रकार "सन्नियोगशिष्टसाम्०" परिभाषा को स्वीकृति प्रदान करते है।

इस प्रसङ्ग में यह आशङ्का उपस्थित हो सकती है कि सूत्र पठित बिल्वकादि० शब्द में कुगागम विशिष्ट पाठ ही इसका प्रमाण हो सकता है कि कुगागम का लोप नहीं होता मात्र छ प्रत्यय का ही लोप होता है। यदि सूत्रकार को कुगागम का लोप अभीष्ट होता तो वे "बिल्वादिभ्यः०" उच्चारण करते। इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित होने पर भी छ ग्रहण की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती, इस आशङ्का का निवारण करते हुए परिभाषाकार नागेशभट्ट कहते है कि - "बिल्वादिभ्यो ऽण्" - (४.३.१३६.) सूत्र में बिल्वादि शब्दों से विकारार्थक अण् का विधान है। इस गण में कुगागम सहित बिल्वक आदि शब्द साक्षात् पठित् नहीं हैं। अतः उपर्युक्त आशङ्का के अनुसार यदि "बिल्वादिभ्यः लुक्" सूत्रारम्भ होता तो इसी सूत्र (५.३.१३६.) से विहित अण् का लुक् पहले प्राप्त होता। सूत्रकार ने इस अति प्रसक्ति के निवारणार्थ "बिल्वकादिभ्य०" कहकर कुगागम विशिष्ट बिल्वकादि शब्द से विहित छ प्रत्यय के लुक् का विधान किया है।

निष्कर्षतः बिल्वकादिभ्यः सूत्र में कुगागम विशिष्ट बिल्वकादि पद से परिभाषा को ज्ञापित करना असंगत है। सूत्र पठित छ प्रत्यय ही परिभाषा का ज्ञापक है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य अर्थ में "साऽस्य देवता" - (४.२.२२.) सूत्र से पञ्चेन्द्राणी शब्द से अण् प्रत्यय होता है। "द्विगोर्लुगनपत्ये" - (४.१.८८.) सूत्र से अण् प्रत्यय का लुक् होता है। पश्चात् "लुक् तद्धित लुकि" - (१.२.४९.) सूत्र से अण् का लोप हो जाने के बाद स्त्री प्रत्यय ङीष् का भी लुक् होता है। ङीष् के लुक् के साथ आनुक् प्रत्यय का भी लुक् होता है और पञ्चेन्द्रः रूप सिद्ध होता है।

❀❀❀

कार्मस्ताच्छील्ये
(६.४.१७२)

ताच्छील्य अर्थ में कार्म शब्द के निपातन के द्वारा "ताच्छीलिके णे ऽण् कृतानि भवन्ति" परिभाषा को ज्ञापित किया जाता है। "कर्म शीलं यस्य सः अर्थ " में "छत्रादिभ्यो णः" - (४.४.६२) सूत्र से कर्मन् शब्द से ताच्छीलिक ण प्रत्यय होता है और कर्मन् + ण् स्थिति में "अन्" - (६.४.१६७.) सूत्र से कर्मन् को प्रकृतिभाव न हो जाए एतदर्थ "कार्म " शब्द का निपातन किया गया है। अन् सूत्र से अन्नन्त प्रकृति से परे भाव या कर्म अर्थ को छोडकर अन्य अर्थ का वाचक अण् प्रत्यय आने पर "नस्तद्धिते" - (६.४.१४४.) सूत्र से प्राप्त टिलोप का निषेध होता है। अर्थात् कर्मन् + ण् में नस्तद्धिते से कर्मन् की टि का लोप प्राप्त होताहै। अन् सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। किन्तु प्रकृत स्थल पर अन् सूत्र से टिलोप का निषेध अभीष्ट नही है अतः पाणिनि को "कार्मः" का निपातन करना पड़ा। कार्मः की निष्पत्ति के लिए टिलोप अभीष्ट है। इस प्रसङ्ग में आचार्यो ने (नागेशादि) कार्म शब्द के निपातन को व्यर्थ सिद्ध किया गया है क्योंकि "नस्तद्धिते" सूत्र से टिलोप करने पर कार्म की सिद्धि संभव है। अन् सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव की या टिलोप के निषेध की संभावना करना युक्तिसंगत नहीं है। अन् सूत्र की प्रवृत्ति अण् के परे ही होती है। कर्मन् + ण में तो ताच्छीलिक ण प्रत्यय है अण् नहीं है। अतः कार्म निपातन व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि अण् प्रत्यय परे रहते जो कार्य होते है वे ताच्छीलिक ण प्रत्यय के परे रहते भी होते हैं। **"ताच्छीलिके णे ऽण् कृतानि भवन्ति"** इसके फलस्वरूप कर्मन् शब्द से अण् प्रत्यय के परे जो प्रकृतिभाव (अन्) प्राप्त था वह ताच्छीलिक ण के परे भी संभव है जिसके निवारणार्थ प्रकृत निपातन चरितार्थ है।

❀❀❀

दाण्डिनायन-हास्तिनायनाथर्वणिक-जैह्माशिनेयवाशिनायनि-भ्रौणहत्य-धैवत्य-सारवैक्ष्वाक मैत्रेय-हिरण्यमयानि
(६.४.१७४)

उपर्युक्त सूत्र में निपातित रूपों में **"भ्रौणहत्य"** रूप के द्वारा "धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति" परिभाषा को ज्ञापित किया गया है। परिभाषा का आशय है कि धातु को विहित कार्य धातु से प्रत्यय का विधान होने पर ही होता है। जैसे - "कंसपरिमृड्भ्याम्" प्रयोग में भ्याम् प्रत्यय प्रातिपदिक से विहित है धातु से नहीं। अतः "मृजेर्वृद्धिः" - (७.२.११४.) सूत्र से मृज् धातु प्राप्त होने वाली वृद्धि कंसपरिमृड् + भ्याम् के मृज् को नही होगी। उपर्युक्त सूत्र में "भ्रौणहत्य" निपातन के द्वारा यह परिभाषा संकेतित होती है। भ्रौणहत्य में अन्तिम नकार के स्थान पर निपातन के द्वारा तकार किया गया है यही परिभाषा का ज्ञापक है। "भ्रूण हतवान्" अर्थ में निष्पन्न भ्रूणहा प्रयोग में "ब्रह्मभ्रूण वृत्रेषु क्विप्" -(३.२.८७.) सूत्र से भूत अर्थ में

क्विप् प्रत्यय करने पर भाव अर्थ में "ष्यञ् प्रत्यय" - (५.१.१२४.) होता है। भ्रूणहन् + य स्थिति में निपातनात् न को त करने पर भ्रौणहत्य रूप सिद्ध होता है। वस्तुतः इस स्थल पर "हनस्तो ऽचिण्णलोः" - (७.३.३२.) सूत्र से न को त हो सकता था और भ्रौणहत्य की अन्यथा सिद्धि संभव थी। सूत्र में पृथक् रूप से निपातन करना व्यर्थ था। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित होता है कि धातु को विहित कार्य उसी स्थिति में संभव है जब धातु से ही कोई प्रत्यय विहित होता है। (धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति) प्रकृत उदाहरण में भावार्थक ष्यञ् प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है, जो धातु से विहित न होकर समर्थ प्रातिपादिक से विहित है अतः "हनस्तोऽचिण्णलोः" - सूत्र से विहित कार्य (अर्थात् न को त आदेश) यहाँ नहीं हो सकता। यदि न को त अभीष्ट है तब उसके लिए विशेष यत्न करना पड़ेगा। सूत्रकार ने "भ्रौणहत्य" निपातन के द्वारा इष्ट रूप की सिद्धि की है।

परिभाषा की व्याप्ति - जहाँ सूत्रों में प्रत्यय निमित्तक कोई कार्य विहित हो वहीं प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् धातु से विशिष्ट प्रत्यय का विधान होने पर उस प्रत्यय के परे यदि कोई कार्य विहित है तभी परिभाषा प्रवृत्त होती है। इसके फलस्वरूप प्रणग्भ्याम् आदि रूपों में प्र + नश् + क्विप् + भ्याम् स्थिति में न को ण "उपसर्गादसमासेऽपि" - (८.४.१४.) क्विप् का लोप "वेरपृक्तस्य" - (६.१.६७.) करने पर प्र + णश् + भ्याम् में भ्याम् प्रत्यय धातु से विहित नहीं है प्रातिपदिक से विहित है अतः प्रकृत परिभाषा से यहाँ "नशेर्वा " - (८.२.६३.) से होने वाला कुत्त्व कार्य बाधित हो सकता है किन्तु यह कुत्त्व प्रत्यय निमित्तक नहीं है। कुत्व का निमित् पदान्तत्व है अतः प्रकृत परिभाषा से इष्ट सिद्धि में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। नशेर्वा सूत्र से शकार को कुत्व होकर प्रणगभ्याम् रूप सिद्ध होता है। कुत्व विकल्प होने के कारण एक बार "व्रश्च भ्रस्ज०" - (८.२.३६.) सूत्र से शकार को षत्व और जश्त्व ("झलां जशोऽन्ते" - ८.४.५३.) होकर प्रणड्भ्याम् रूप भी निष्पन्न होता है।

❀❀❀

नेदमदसोरकोः
(७.१.११)

"नेदमदसोरकोः" - (७.१.११.) सूत्र में पठित अकोः पद से **"तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते"** परिभाषा ज्ञापित होती है। सर्वादि गण में इदम् और अदस् शब्द पठित हैं। अकच्सहित इदम् और अदस् का पाठ सर्वादिगण में नहीं है अतः यह अन्यथा सिद्ध है कि अकच् सहित इदम् और अदस् शब्दों का ग्रहण अकच् रहित इदम् और अदस् शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि इदम् और अदस् शब्द जिस वर्णानुपूर्वी से युक्त है उससे भिन्न वर्णानुपूर्वी अकच सहित इदम् - अदस् की है। मात्र इदम् - अदस् से परे भिस् को ऐस् आदेश का निषेध करने से भी इष्ट सिद्धि संभव थी। "अकोः" कथन की आवश्यकता न थी। तथापि सूत्रकार "अककारयोः इदमदसोः भिसः

ऐस् न स्यात्" कहकर यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि केवल इदम् - अदस् शब्दों के पाठ से अकच् सहित इदम् - अदस् का भी ग्रहण हो सकता है जिसके निवारणार्थ "अकोः" ग्रहण आवश्यक है। सूत्रकार की इसी मान्यता को परिभाषाकारों ने "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" परिभाषा के द्वारा प्रदर्शित किया है। परिभाषा का आशय है कि सूत्र में किसी शब्द का निर्देश उस विशिष्ट शब्द स्वरूप का बोधक होता है तथा उस शब्द के मध्य अन्य वर्णो का उच्चारण होने पर उन वर्णो से युक्त शब्द का भी ग्रहण होता है। जैसे - सर्व और उच्चैः शब्दों के मध्य "अक" का समावेश होने पर सर्वकः, उच्चकैः शब्द निष्पन्न होते हैं।

"अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" - (५.३.७१.)सूत्र से सर्व सर्वनाम की और उच्चैः अव्यय की टि के पूर्व अकच् प्रत्यय होता है और सर्वकः और उच्चैकः शब्द सिद्ध होते हैं। प्रकृत परिभाषा के बल से सर्व उच्चैः शब्दों से सर्वक और उच्चकैः शब्दों का ग्रहण हो जाता है और उसके फलस्वरूप "सर्वादीनि सर्वनामानि" - (१.१.२७.) सूत्र से इनकी भी सर्वनाम संज्ञा और अव्यय संज्ञा सिद्ध हो जाती है।

❀❀❀

यस्य विभाषा
(७.२.१५)
स्वरति सूतिसूयतिधूञूदितो वा
(७.२.४४)

"यस्य विभाषा" - (७.२.१५.) सूत्र के भाष्य से एक परिभाषा ध्वनित होती है जिसका आशय है सूत्र में उच्चरित कोई धातु यदि लुग्विकरण और अलुग्विकरण दोनों में सम्मिलित होता है तब सन्देह की स्थिति में अलुग्किरण धातु का ही ग्रहण करना चाहिए। **(लुग्विकरणालुग्विकरणयोर लुग्विकरणस्य)** अदादि गण की धातुओं से विहित् शप् विकरण का लुक् "अदि प्रभृतिभ्यः शपः" - (२.४.७२.) से होता है अतः अदादि गण की धातुओं को लुग्विकरण कहा जाता है। अन्य गण की धातुओं में विकरण का लुक् नहीं होता अतः उन्हें अलुग्विकरण धातु कहा जाता है। "गातिस्था घुपा०" - (२.४.७७.) सूत्र में पठित पा धातु अदादि गण में (पारक्षणे) पठित होने से लुग्विकरण है और भ्वादि गण में पठित होने से (पा पाने) अलुग्विकरण भी है किसी सूत्र में पा धातु का ग्रहण होने पर यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि किस गण की पा धातु का ग्रहण सूत्रकार को अभीष्ट है। जैसे - गातिस्था० सूत्र में पठित पा धातु के संबंध में सन्देह उपस्थित होने पर उपर्युक्त परिभाषा के बल से अलुग्विकरण (भ्वादिगण में पठित पा पाने) पा धातु का ही ग्रहण होता है। इसके परिणाम स्वरूप अदादि गण के पा धातु में उपर्युक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और लुङ् लकार में अपासीत् रूप सिद्ध होता है। भ्वादिगण के पा धातु के लुङ् लकार में गाति स्था० सूत्र से सिच् का लोप होकर अपात् रूप सिद्ध होता है।

भाष्य में यह परिभाषा साक्षात् पठित नहीं है। "यस्य विभाषा" - (७.२.१५.)

सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इसका संकेत करते हैं। "विभाषा गमहन विदविशाम्" -(७.२.६८.) सूत्र से गम - हन - विद और विश धातुओं से क्वसु प्रत्यय के परे विकल्प से इडागम होता है। जिन धातुओं का विकल्प से इडागम का विधान है उनसे निष्ठा प्रत्यय आने पर "यस्य विभाषा" सूत्र से इडागम का निषेध होता है। प्रकृत स्थल पर गमहन० सूत्र में विद धातु से कौन सा विद् धातु ग्राह्य है ? - यह संदेह उपस्थित होता है। यदि हन् के साहचर्य से विद् से लुग्विकरण अदादि विद् का ग्रहण करते हैं तब निष्ठा प्रत्यय में विदित रूप निष्पन्न होता है। विश् के साहचर्य से तुदादि लुग्विकरण विद धातु का ग्रहण करते हैं तब निष्ठान्त रूप वित्त सिद्ध होता है। इस स्थिति में अनिष्ट रूप की आपत्ति होती है। अतः भाष्यकार इस प्रसङ्ग में अलुग्विकरण विद् धातु का ग्रहण ही स्वीकार करते हैं और परिणामः यस्य विभाषा सूत्र से इडागम का निषेध तुदादि के विद् को करते हैं। अदादि गण पठित विद् धातु का निष्ठान्त रूप विदित ही सिद्ध होता है क्योंकि अदादि के विद् को वैकल्पिक इडागम नहीं है।

निष्कर्षतः यस्य विभाषा सूत्र के भाष्य से "लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव" परिभाषा का संकेत मिलता है।

"स्वरति सूति सूयति०" - (७.२.४४.) सूत्र के भाष्य प्रदीप में कैयट का कथन है कि सूति और सूयति इन दो धातुओं का पृथक् निर्देश प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा सूङ् निर्देश करने से दोनों धातुओं का ग्रहणहो जाता। षूङ् धातु अदादि और दिवादि गणों में पठित है। यदि सूत्रकार उपर्युक्त सूत्र में सूङ् का निर्देश करते तो प्रकृत परिभाषा के बल से अलुग्विकरण षूङ् धातु का अर्थात् दिवादिगण पठित षूङ् धातु का ग्रहण होता। अदादि गण पठित षूङ् का ग्रहण अभीष्ट है अतः वे लुग्विकरण सूति और अलुग्विकरण सूयति दोनों का पृथक् - पृथक् उल्लेख करते हैं। यह पृथक् उल्लेख ही परिभाषा को ज्ञापित करता है।

वस्तुतः कैयट का उपर्युक्त कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि "स्वरति सूति०" सूत्र में उच्चरित अन्य सभी धातु अलुग्विकरण है। साहचर्यन्याय से **(सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्)** केवल सूङ् का उच्चारण करने पर वह अलुग्विकरण षूङ् धातु का ही ग्राहक होता। दोनो धातुओं का (लुग्विकरण और अलुग्विकरण) ग्रहण यदि अभीष्ट है तो सूत्रकार को उसके लिए यत्न करना आवश्यक था। इस प्रकार सुति सूयति ये पृथक निर्देश परिभाषा के ज्ञापक नहीं कहे जा सकते।

"यस्य विभाषा" सूत्र का भाष्य ही इस विषय में प्रमाण है।

❀❀❀

हेरचङि
(७.३.५६)

" हेरचङि " - सूत्र में पठित "अचङि" प्रतिषेध से यह ज्ञापित होता है कि धातु से विहित कोई कार्य धातु की "णिजन्त" प्रकृति को भी होता है। **"प्रकृति ग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्"** यदि यह परिभाषा न होती तो सूत्र में "अचङि" प्रतिषेध की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि " णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् " - (३.१.४८.) सूत्र से णिजन्त धातु से ही कर्त्रर्थक चङ् प्रत्यय होता है। हेरचङि सूत्र से हि धातु के ह को अभ्यास से परे होने पर कुत्व होता है चङ् परे होने पर नहीं होता। जैसे - प्र + हायि + सन् + ति में हायि को द्वित्व अभ्यास कार्य करने पर प्र जि हायि + स + ति में ह को कुत्व करने पर प्रजि घाययिषति रूप सिद्ध होता है। "अचङि" निषेध के कारण चङ् प्रत्यय में यह कुत्व नहीं होता। वस्तुतः चङ् के परे कुत्व का प्रतिषेध करना व्यर्थ है। क्योंकि "प्राप्तस्यैव निषेधः" न्याय से प्राप्त कार्य का ही निषेध होता है। जो कार्य प्राप्त ही नहीं उसका निषेध करना आवश्यक नहीं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में " हेरचङि" सूत्र से केवल हि धातु के अभ्यास परक हकार को कुत्व का विधान है। चङ् प्रत्यय तो ण्यन्त धातु से ही होता है अतः कुत्व की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं है। तथापि सूत्रकार "अचङि" कहकर चङ् के परे कुत्व का निषेध करते हैं इससे ज्ञापित होता है कि केवल धातु को विहित कार्य उसके णिजन्त रूप को भी हो सकता है और इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित होने पर अचङि निषेध सार्थक है।

परिभाषा के विषय में यह ध्यातव्य है कि जहाँ सूत्रों में धातु को कुत्व का विधान है वहीं परिभाषा प्रवृत्त होती है, अन्य कार्यों में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं है जैसे - "अदि प्रभृतिभ्यः शपः" - (२.४.७२.) सूत्र से अदादि धातुओं से विहित शप् का लुक् होता है। यह लुक् कार्य णिजन्त अदादि धातुओं से विहित शप् को नहीं होता। इसीलिए आदयति, खादयति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

❀❀❀

ज्ञाजनोर्जा
(७.३.७९)

"ज्ञाजनोर्जा " - सूत्र से ज्ञा और जन् धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते जा आदेश होता है। इस सूत्र में पठित जा पद से एक परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है जिसके अनुसार "अङ्गाधिकार" में विहित कार्य के निष्पन्न होने पर पुनः अङ्गाधिकार के सूत्र से दूसरा कार्य नहीं होता। (अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः) जैसे - युष्मद् + भ्यस् में अङ्गाधिकार में पठित सूत्र "भ्यसो भ्यम् " - (७.१.३०.) सूत्र से भ्यस् को भ्यम् आदेश करने पर और " शेषे लोपः" - (७.२.९०.) से अन्त्य दकार का लोप करने पर युष्म + भ्यम् की स्थिति में पुनः अङ्गाधिकार के सूत्र "बहुवचने झल्येत्" - (७.३.१०३.) से युष्म को एत्व नहीं होता और इस प्रकार युष्म + भ्यम् = युष्मभ्यम्

रूप सिद्ध हो जाता है। अन्यथा बहुवचने झल्येत् की भी प्रवृत्ति करने पर "युष्मेभ्यम्" इस अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाएगी।

" ज्ञाजनोर्जा " सूत्र का जा ग्रहण किस प्रकार उक्त परिभाषा का ज्ञापक है इस विषय में भाष्यकार लिखते है कि सूत्र में जा के स्थान पर ज का ग्रहण करने से भी इष्ट सिद्धि हो सकती थी। जैसे - ज्ञा + श्ना + ति में ज्ञा को ज आदेश करने पर ज + ना + ति में "अतोदीर्घो यञि" - (७.३.१०.) सूत्र से ज के अकार को दीर्घ करने पर जानाति रूप सिद्ध हो जाता। इसी प्रकार "जन् + श्यन् + ते " में जन् के स्थान पर ज आदेश को भी उसी सूत्र से (७.३.१०.) दीर्घ करने पर जायते रूप सिद्ध हो सकता था। सूत्र में जा की क्या आवश्यकता थी। इसका समाधान यह है कि "ज्ञाजनोर्जा " अङ्गाधिकार का सूत्र है। इस सूत्र से एक बार कार्य निष्पन्न हो जाने के बाद पुनः "अतोदीर्घो यञि" इस अङ्गाधिकार के सूत्र से कार्य नहीं हो सकता। सूत्रकार इस नियम से अवगत रहे होंगे। अतः उन्होने ज्ञा और जन् के स्थान पर ज आदेश न करते हुए जा आदेश ही किया है।

यही परिभाषा "ज्यादादीयसः" - (६.४.१६०.) सूत्र के आत् ग्रहण से भी ज्ञापित होती है। ज्य ईयस् में ज्यादादीयसः सूत्र से ईयस् के ई को आत्व किया गया है और ज्य + आयस् = ज्यायस् सिद्ध होता है। इस स्थल पर ज्यादीयसः सूत्रारम्भ करने से भी इष्ट सिद्धि संभव थी। पूर्व सूत्र "बहोर्लोपो भू च बहोः" - (६.४.१५८.) सूत्र से लोप की अनुवृत्ति होकर ज्य के परे ईयस् के आदि वर्ण का लोप हो जाता और ज्य + यस् में "अकृत सार्वधातुकयोर्दीर्घः" - (७.४.२५.) से ज्य को दीर्घ होकर ज्यायस रूप सिद्ध हो जाता। किन्तु सूत्रकार को प्रकृत परिभाषा स्वीकार्य थी अतः उन्होंने "ज्यादीयसः लोपः" इस प्रकार अङ्गाधिकार के सूत्र से एक बार ईलोप रूप कार्य होने के बाद "अकृत्सार्वधातुकयोः दीर्घः" अङ्गाधिकार के इस द्वितीय सूत्र से पुनः कार्य करना युक्ति संगत नहीं समझा और इसीलिए "ज्यादादीयसः" सूत्र में आत् पद का उच्चारण करना पडा। इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित होने पर आत् ग्रहण सार्थक सिद्ध हुआ।

❀❀❀

ओर्गुणः
(६.४.१४६)

"ओर्गुणः" सूत्र में गुण पद के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि सूत्र में संज्ञा वाचक शब्दों का विधेयांश में उच्चारण करते हुए यदि कोई कार्य विहित हो तो वह कार्य अनित्य होता है। **"संज्ञापूर्वक विधेरनित्यत्वम्"** ओर्गुणः सूत्र में गुण पदक स्थान पर यदि ओत् पद का ग्रहण किया जाता तो भी उकार के स्थान पर ओकार आदेश होकर इष्ट रूप की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु गुण पद के उच्चारण के द्वारा सूत्रकार यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि संज्ञा शब्दों के द्वारा विधीयमान कार्य अनित्य हो सकते हैं। इसीलिए "स्वायम्भुवम्" आदि प्रयोगों में स्वयम्भू शब्द से अपत्यार्थक अण् प्रत्यय (तस्यापत्यम् - ४.१.९२.)करने पर तया आदि अच् को वृद्धि (७.२.११७.)

करने से स्वायम्भू + अण्" स्थिति में "ओर्गुणः" सूत्र से ऊकार को गुण की प्राप्ति है किन्तु यह गुण कार्य अनित्य है अतः स्वायम्भू में ऊकार को गुण नहीं होता अपितु "उवङ् आदेश" - (६.४.७७.) होकर स्वायम्भुवम् रूप सिद्ध होता है।

❀❀❀
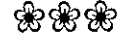
आनि लोट्
(८.४.१६)

"आनि लोट्" - (८.४.१६.) सूत्र के अनुसार उपसर्ग में णत्व के निमित्त विद्यमान होने पर लोट् लकार के आनि में स्थित नकार को णत्व आदेश होता है। लोट् लकार में उत्तम पुरूष एकवचन के मि (मिप्) के स्थान पर नि आदेश "मेर्निः" - (३.४.८९.) और "आडुत्तमस्य पिच्च" - (३.४.९२.) से नि को आडागम करने पर आनि प्रत्यय प्राप्त होता है। वस्तुतः आनि लोट् सूत्र में केवल नि लोट् कहने पर भी इष्ट सिद्धि हो सकती थी क्योंकि नि के नकार को णत्व विहित है तथापि सूत्रकार आडागम सहित नि का उच्चारण करते हैं जिसमें सूत्रकार का कोई न कोई प्रयोजन लक्षित होता है परिभाषाकारों ने इस आधार पर "आगमशास्त्रमनित्यम्" परिभाषा का ज्ञापन किया है। परिभाषा का आशय है कि आगम कार्य अथवा आगम शास्त्र अनित्य होते हैं। केवल नि लोट् कहने से कदाचित् आडागम् रहित नि को भी णत्व की प्रसक्ति न हो जाए अतः आडागम सहित नि का अर्थात् "आनि" का उच्चारण किया गया। आडागम सहित नि के उच्चारण सामर्थ्य से केवल नि के नकार को णत्व नहीं होता।

परिभाषा के अन्य उदाहरण सागरं तर्तुकामस्य इत्यादि उध्दरणों में प्राप्त है। तृ धातु सेट्क है अतः "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" - (७.२.३५.) से इडागम करने पर तथा "वृतो वा" - (७.२.३८.) सूत्र से वैकल्पिक दीर्घ करने पर तरीतुकामस्य अथवा तरितुकामस्य रूप निष्पन्न होते हैं। तर्तुकामस्य रूप सर्वथा अनुचित है। परिभाषा के बल से आगम शास्त्र की अनित्यता स्वीकार करने पर इडागम रहित तर्तुकामस्य प्रयोग भी प्रचलित होता है। इसी प्रकार "शाकं पचानस्य" और "क्षुब्धो राजा" आदि लोक व्यवहार में प्रचलित प्रयोगों की साधुता भी स्वीकार्य होती है। "पचानस्य" के स्थान पर "पचमानस्य" रूप सूत्र सिद्ध है। पच् धातु से "शानच्" - (३.२.१२४.) और मुमागम "आने मुक्" - (७.२.८२.) करने पर पचमान सिद्ध होता है। किन्तु मुक् आगम अनित्य होने से पचानस्य प्रयोग में उसकी विद्यमानता नहीं है। क्षुभ् धातु भी सेट्क है अतः क्त प्रत्ययान्त क्षुभित रूप साधु है। किन्तु यहाँ भी "इडागम" -(७.२.३५.) को अनित्य मानकर क्षुब्धः प्रयोगार्ह हो जाता है।

❀❀❀

तनादिकृञ्भ्यः उः
(३.१.७९)

प्रकृत सूत्र में कृञ् ग्रहण के औचित्य पर विचार करते हुए कतिपय वैयाकरणों का मत है कि तनादि गण में कृ धातु पठित है अतः "तनादिभ्यः उः" सूत्रारम्भ करने पर भी इष्ट सिद्धि हो सकती है। तनादि के अन्तर्गत् पठित कृ धातु से भी उ विकरण की प्रवृत्ति हो जाएगी कृञ् ग्रहण व्यर्थ है। यह कृञ् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि गण कार्य अनित्य होते हैं।(**गणकार्यमनित्यम्**) - अर्थात् सूत्र में गण का उच्चारण करते हुए जो कार्य विहित होते हैं वे अनित्य होते हैं। यही कारण है कि "न विश्वसेदविश्वस्तम्" आदि प्रयोग लोक मे प्रचलित है, और साधु माने जाते हैं। इस प्रयोग में श्वस् धातु का प्रयोग है जो अदादि गण में पठित है। "अदि प्रभृतिभ्यः शपः" - (२.४.७२.) सूत्र से इस धातु के शप् का लुक् होता है और विधि लिङ्ग में विश्व स्यात् रूप निष्पन्न होता है - विश्वसेत् नहीं। तथापि लोक में विश्वसेत् का प्रयोग किया जाता है। इससे सिद्ध है कि अदादि धातुओं से होने वाला शप् का लुक् नित्य नहीं है। विश्वसेत् में उसका लुक् नहीं है अतः विश्वसेत् रूप निष्पन्न हो जाता है।

❀❀❀

अनुदात्तं पदमेकवर्जम्
(६.१.१५८)

"अनुदातं पदमेकवर्जम्" - सूत्र स्वयं एक परिभाषा सूत्र है। सूत्र में पठित वर्जम् पद अन्य परिभाषा का ज्ञापक भी है। सूत्र में वर्जम् शब्द के स्थान पर नञर्थ में "एक" का समास करने पर "अनेकम" पद निष्पन्न होता है। यदि सूत्र में इसका प्रयोग करते तो **"अनुदात्तं पदमनेकम्"** सूत्रारम्भ होता। इस सूत्रारम्भ से अभीष्ट अर्थ का बोध हो सकता है और लाघव भी सिद्ध हो सकता है। सूत्रकार नञ् घटित प्रयोग न करते हुए "एकवर्जम्" का प्रयोग करते हैं। जिससे यह ज्ञापित होता है कि नञ्घटित कार्य अनित्य होते हैं। (**नञ्घटितमनित्यम्**)- इसका उदाहरण - "हे सुभ्रु !" इस सम्बुद्धि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। "अचि श्नुधातु०" - (६.४.७७.) सूत्र से सुभ्रु में भ्रू के अकार को उवङ् आदेश प्राप्त है। इस प्रकार वह उवङ् आदेश का स्थानी है अतः "नेयङुवङ् स्थानावस्त्री" - (१.४.४.) सूत्र से सुभ्रू की नदीसंज्ञा का निषेध होता है। नदी संज्ञा का निषेध होने से सम्बुद्धि में हे सुभ्रु + स् में "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" - (७.३.१०७.)सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसके कारण अङ्ग को ह्रस्व नहीं हो सकता। तथापि लोक में ह्रस्व होकर हे सुभ्रु ! प्रयोग साधु हो जाता है। इससे सिद्ध है कि नेयङुवङ्० सूत्र से होने वाला निषेध अनित्य है, अर्थात् उवङ् आदेश का स्थानी होने पर सुभ्रू में नदी संज्ञा की योग्यता बनी रहती है।

यह परिभाषा भाष्य में पठित नहीं है अतः नागेशादि परिभाषाकारों को भी यह स्वीकार्य नहीं है।

❀❀❀

प्रत्ययलोपे प्रत्यय लक्षणम्
(१.१.६२)
आर्धधातुकस्येड् वलादेः
(७.२.३५)

कतिपय प्राचीन वैयाकरण उपर्युक्त दोनों सूत्रो के आधार पर **"सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलीयान्"** परिभाषा की अवतारणा करते है। उनके अनुसार कानि + सन्ति और कौ + स्तः इत्यादि वाक्य प्रयोगों में कानि + अस् + अन्ति और कौ + अस् + स्तः इस विग्रह दशा में "इकोयणचि और एचोऽयवायावः" - (६.१.७८.) सूत्रों से क्रमशः यणादेश और आवादेश प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही "श्नसोरल्लोप" - (६.४.१११.) सूत्र से अस् के अ का लोप भी प्राप्त है। यदि अ लोप पहले नहीं करते तो यणादेश और आवादेश की आपत्ति होती है। सभी विधियों से लोप विधि को बलवान् मानने से अलोप पहले होता है और इस प्रकार यणादेश और आवादेश के निमित्त नष्ट हो जाते है और दोनों आदेश निवृत्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त नियम को "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" - सूत्र के द्वारा ज्ञापित किया जाता है। प्रत्यय का लोप हो जाने के बाद प्रत्यय लक्षण करने की अपेक्षा प्रत्यय निमित्तक कार्य ही प्रथम कर लिए जाएँ तदनन्तर प्रत्यय का लोप किया जाए। इस पध्दति से अभीष्ट सिद्धि भी हो सकती है और प्रत्यय लक्षण का आरम्भ करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। किन्तु सूत्रकार प्रत्यय लक्षण का आरम्भ करते हैं जो ज्ञापित करता है कि लोप कार्य अन्य सभी कार्यो से बलवन्तर होते हैं अतः प्रथम हो जाते हैं। प्रत्यय का लोप हो जाने पर प्रत्ययनिमित्तक कार्य की प्रवृत्ति संभव नही रहती। उसकी निष्पत्ति के लिए प्रत्यय लक्षण करना आवश्यक है।

इस प्रकार "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" सूत्र उक्त परिभाषा को ज्ञापित करके चरितार्थ हो जाता है, कतिपय वैयाकरण " असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे " परिभाषा के आधार पर उपर्युक्त प्रयोगो की सिद्धि करते हैं तथा प्रस्तुत परिभाषा का खण्डन करते हैं। सन्ति स्तः आदि प्रयोगो में प्रत्यय को मानकर होने वाला "अलोप अन्तरङ्ग" है तथा शब्दान्तर को मानकर होने वाला यणादेश या आवादेश बहिरङ्ग है। अतः अन्तरङ्ग कार्य (अलोप) की दृष्टि से असिद्ध हो जाता है। फलस्वरूप अलोप प्रथम हो जाता है।

"आर्धधातुकस्येड् वलादेः" - (७.२.८.) सूत्र में पठित इड् ग्रहण से **"सर्व विधिभ्य इड् विधिर्बलवान्"** परिभाषा प्राचीन वैयाकरणों ने ज्ञापित किया है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि - " नेड् वशि कृति " - (७.२.८.) इस पूर्वसूत्र से इड् ग्रहण की अनुवृत्ति "आर्धधातुकस्य०" - सूत्र में हो सकती है तथापि सूत्रकार पुनः इड् ग्रहण करते हैं जिससे ज्ञापित होता है कि इडागम कार्य अन्य कार्यो की अपेक्षा प्रथम होता है।

वस्तुतः "आर्धधातुकस्येड्०" सूत्र के इड् ग्रहण का उपर्युक्त प्रयोजन युक्ति संगत नहीं है। सूत्र पठित इड् ग्रहण की सार्थकता यह है कि इडागम के द्वारा प्राप्त इड् को गुण या वृद्धि न की जाए **(इड् इडेव यथा स्यादिति)** सिद्धान्ततः भाष्यकार ने इड् पद का प्रत्याख्यान कर दिया है। अतः परिभाषा ज्ञापन में इसकी सार्थकता मानना अयुक्त है।

❀❀❀

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा
(६.१.९९)
अर्तिपिपर्त्योश्च
(७.४.७७)

"पटत् - पटत् इति" प्रयोग में ध्वनि के अनुकरण वाचक पटत् के आम्रेडित रूप के अन्तिम तकार को विकल्प से पररूप होता है। "नाम्रेडितस्या०" - (६.१.९९.) सूत्रारम्भ में किए गए निषेध का तात्पर्य है कि पूर्व सूत्र में "अव्यक्तानुकरणस्यात् इतौ" (६.१.९८.) में अव्यक्त अनुकरण वाचक शब्द के अत् को इति शब्द परे रहने पर पररूप का विधान किया गया है। प्रकृत सूत्र में आम्रेडित के लिए अत् के पररूप का निषेध है केवल अन्तिम तकार का विकल्प से पररूप किया गया है। प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के प्रयोजन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उसका उच्चारण व्यर्थ है क्योंकि "अलोऽन्त्यस्य" - (१.१.५२.) परिभाषा सूत्र से अन्तिम तकार का ग्रहण होकर उसे पररूप की सिद्धि हो ही जाती। सूत्र में पुनः उसका उच्चारण करना व्यर्थ है। सूत्र पठित किसी शब्द को व्यर्थ सिद्ध करना संभव नही है अतः व्यर्थ प्रतीत होता हुआ वह ज्ञापित कराता है कि यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। **(नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरभ्यास विकारे)**

परिभाषा का आशय है कि जब कोई कार्य सार्थक शब्द को विहित होता है तब अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति होती है और वह विधीयमान कार्य अन्तिम वर्ण को होता है। यदि कोई कार्य अनर्थक वर्णसमूह को प्राप्त है तब वह कार्य अन्त्य अल् को नही वरन् सूत्र में निर्दिष्ट अंश को ही होता है। अभ्यास संबंधी विकार में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् अभ्यास विकार में अनर्थक में भी अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के उच्चारण का यही प्रयोजन है। ध्वनि का अनुकरण वाचक पटत् शब्द अर्थरहित वर्णसमुदाय है। इसे विहित कार्य में अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति नही होती। अतः अन्त्य को पररूप की सिद्धिहेतु अन्त्यस्य पद चरितार्थ है।

उपर्युक्त परिभाषा का उत्तरार्ध "अनभ्यास विकारे" को में अर्तिपिपर्त्योश्च पठित पिपर्ति शब्द के द्वारा ज्ञापित किया गया है। "अर्तिपिपर्त्योश्च"- सूत्र से जुहोत्यादि गण की पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को इकार आदेश होता है। अभ्यास अर्थरहित होने से **"नानर्थकेऽलोन्त्य विधिः"** परिभाषा से सम्पूर्ण अभ्यास को इकारादेश हो जाता।

वस्तुतः पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को ही अर्थात् ऋकार को ही इकारादेश अभीष्ट है। जिसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार की पिपर्ति ग्रहण करना पडा। इस प्रकार पिपर्ति ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अभ्यास अनर्थक होने पर भी उसमें अलोऽन्त्य विधि अभीष्ट नहीं है तो यत्न करना होगा। इस प्रकार "अनभ्यास विकारे" अंश को ज्ञापित कर पिपर्ति ग्रहण चरितार्थ होता है।

❀❀❀

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा
(६.१.९९)
अर्तिपिपर्त्योश्च
(७.४.७७)

"पटत् - पटत् इति" प्रयोग में ध्वनि के अनुकरण वाचक पटत् के आम्रेडित रूप के अन्तिम तकार को विकल्प से पररूप होता है । "नाम्रेडितस्या०" - (६.१.९९.) सूत्रारम्भ में किए गए निषेध का तात्पर्य है कि पूर्व सूत्र में "अव्यक्तानुकरणस्यात् इतौ" (६.१.९८.) में अव्यक्त अनुकरण वाचक शब्द के अत् को इति शब्द परे रहने पर पररूप का विधान किया गया है । प्रकृत सूत्र में आम्रेडित के लिए अत् के पररूप का निषेध है केवल अन्तिम तकार का विकल्प से पररूप किया गया है । प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के प्रयोजन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उसका उच्चारण व्यर्थ है क्योंकि "अलोऽन्त्यस्य" - (१.१.५२.) परिभाषा सूत्र से अन्तिम तकार का ग्रहण होकर उसे पररूप की सिद्धि हो ही जाती । सूत्र में पुनः उसका उच्चारण करना व्यर्थ है । सूत्र पठित किसी शब्द को व्यर्थ सिद्ध करना संभव नही है अतः व्यर्थ प्रतीत होता हुआ वह ज्ञापित कराता है कि यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । **(नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरभ्यास विकारे)**

परिभाषा का आशय है कि जब कोई कार्य सार्थक शब्द को विहित होता है तब अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति होती है और वह विधीयमान कार्य अन्तिम वर्ण को होता है । यदि कोई कार्य अनर्थक वर्णसमूह को प्राप्त है तब वह कार्य अन्त्य अल् को नही वरन् सूत्र में निर्दिष्ट अंश को ही होता है । अभ्यास संबंधी विकार में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् अभ्यास विकार में अनर्थक में भी अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति हो जाती है । प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के उच्चारण का यही प्रयोजन है । ध्वनि का अनुकरण वाचक पटत् शब्द अर्थरहित वर्णसमुदाय है । इसे विहित कार्य में अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति नही होती । अतः अन्त्य को पररूप की सिद्धिहेतु अन्त्यस्य पद चरितार्थ है ।

उपर्युक्त परिभाषा का उत्तरार्ध "अनभ्यास विकारे" को में अर्तिपिपर्त्योश्च पठित पिपर्ति शब्द के द्वारा ज्ञापित किया गया है । "अर्तिपिपर्त्योश्च"- सूत्र से जुहोत्यादि गण की पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को इकार आदेश होता है । अभ्यास अर्थरहित होने से **"नानर्थकेऽलोन्त्य विधिः"** परिभाषा से सम्पूर्ण अभ्यास को इकारादेश हो जाता ।

वस्तुतः पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को ही अर्थात् ऋकार को ही इकारादेश अभीष्ट है । जिसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार की पिपर्ति ग्रहण करना पडा । इस प्रकार पिपर्ति ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अभ्यास अनर्थक होने पर भी उसमें अलोऽन्त्य विधि अभीष्ट नहीं है तो यत्न करना होगा । इस प्रकार "अनभ्यास विकारे" अंश को ज्ञापित कर पिपर्ति ग्रहण चरितार्थ होता है ।

❀❀❀

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः
(७.१.७५)

अस्थि - दधि सक्थि और अक्षि शब्दों को अजादि सुप् विभक्ति के परे अनङ् आदेश होता है और वह अनङ् उदात्त होता है। सूत्र में उदात्त शब्द का उच्चारण करते हुए अनङ् का विधान है। अनङादेश को साक्षात् उदात्त उच्चारण करते हुए विधान किया जा सकता है किन्तु सूत्रकार उदात्त शब्द के द्वारा उदात्तत्व का निर्देश करते हैं जिससे ज्ञापित होता है कि गुण अभेदक होते हैं। **(अभेदकाः गुणाः)** - गुण से तातपर्य है उदात्तत्व - अनुदात्तत्व - स्वरितत्व - अनुनासिकत्व और अननुनासिकत्व। इन पाँच गुणों से युक्त शब्दस्वरूपों में तत्तत् गुण विवक्षित नहीं होते हैं अर्थात् गुणों के कारण शब्दस्वरूपों में भेद नही होता। जिस प्रकार शीतल जल और उष्ण जल में शीतता और उष्णता गुणों के कारण स्वरूपगत भेद नही होता। प्रकृत सूत्र में भी अनङ् का उदात्त उच्चारण करने पर सर्वत्र उदात्त अनङ् आदेश ही होता यह आवश्यक नहीं। क्वचित् भिन्न स्वर युक्त अनङ् भी उपलब्ध हो सकता है। यदि सर्वत्र उदात्त अनङ् ही अभीष्ट है तो उदात्त शब्द का उच्चारण करना आवश्यक होगा। इस प्रकार यत्न पूर्वक उच्चरित उदात्त शब्द गुणों की अभेदकता का ज्ञापक है।

परिभाषा का उदाहरण "उञः" - (१.१.१७.), "ऊँ:" - (१.१.१८.) सूत्रों में प्राप्त है। " ऊँ " सूत्र में विशेष रूप से अनुपासिक स्वर उच्चरित (निर्दिष्ट) है जो यत्न विशेष के कारण विवक्षित माना जाता है। अन्यथा "स्थानेऽन्तरतमः" - (१.१.५०.) के सामर्थ्य से निरनुनासिक उ के स्थान पर निरनुनासिक उकार आदेश हो जाता। सानुनासिक ऊँकार आदेश अभीष्ट है अतः सूत्रकार सानुनासिक ऊँ का विधान करते है। "पथिमथिऋभुक्षामात्" - (७.१.८५.) सूत्र में भी पथिन् - मथिन् - ऋभुक्षिन् ये तीनो शब्द नकारान्त है। इनके स्थान पर स्थान सादृश्य से अनुनासिक आकार ही प्राप्त है किन्तु सूत्रकार यत्न पूर्वक शुद्ध आकार "निरनुनासिक आकार" का सूत्र में उच्चारण करते हैं अतः अनुनासिक नकार के स्थान पर अननुनासिक आकार आदेश होकर इष्ट रूप सिद्ध होते हैं। यत्न विशेष के कारण निरनुनासिक आ से सानुनासिक का ग्रहण नहीं होता

❀❀❀

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः
(१.१.६९)

प्रकृत सूत्र का अप्रत्यय पद **"भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहण न"** परिभाषा का सूचक है। कतिपय वैयाकरण सम्पूर्ण सूत्र को परिभाषा सूत्र की कोटि में सम्मिलित करते हैं। परिभाषा प्रकरण में इसकी व्याख्या की गई है। सूत्र में पठित अण् पद से भी एक परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है जिसका संबंध "पूर्वत्रासिद्धम्" - (८.२.१.) से है। व्याकरण ग्रन्थो में **"पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे"** इस वार्तिक के रूप में यह पठित है। इसका आशय है कि पूर्वसूत्र से द्वित्व भिन्न कार्य कर्त्तव्य हो तभी पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति होती है अर्थात् त्रिपादी में पूर्वसूत्र के प्रति पर सूत्र की असिद्धता द्वित्व भिन्न कार्य के प्रति ही होती है पूर्व सूत्र से यदि द्वित्व कार्य

प्राप्त है तब उसके प्रति पर सूत्र असिद्ध नही होता। यह द्वित्व कार्य चाहे सापादिक हो सकता है और त्रैपादिक भी।

द्वित्व पद से इस प्रसंङ्ग में षष्ठाध्याय के प्रथम पाद में पठित "लिटि धातोरनभ्यासस्य" - (६.१.८.) सन्यङो - (८.१.१) अधिकार में पठित पदद्वित्वो का और अष्टमाध्याय चतुर्थ पाद में पठित वर्ण द्वित्वो का ग्रहण होता है। ("अनचिच" - ८.४.४७. आदि।)

अणुदित्० सूत्र के अण् ग्रहण से इसे ज्ञापित करते हुए कतिपय वैयाकरणो का कथन है कि अणुदित् ० के स्थान पर अजुदित्० भी पाठ कर इष्ट सिद्धि हो सकती थी। लण् के णकार तक वर्णो का बोध करने वाले अण् प्रत्याहार के ग्रहण का प्रयोजन यही हो सकता है कि सवर्ण ग्रहण में य - व - ल वर्णो का भी समावेश हो जाए। ये - व - ल से उनके सवर्णी सानुनासिक यँ - वँ - लँ का ग्रहण करने के लिए अण् प्रत्याहार का प्रयोग सार्थक प्रतीत होता है। यही कारण है कि सम्+ यन्ता, सम + वत्सरः आदि उदाहरणों में म् के स्थान पर य व आदेश करते समय स्थान साम्य से य के परे अनुनासिक यँ और व के परे अनुनासिक वँ आदेश हो जाता है। (८.४.५८.) अनुनासिक आदेश होने के पश्चात् सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः इत्यादि स्थिति में अनुनासिक यँ, वँ को "अनचि च" से द्वित्व होकर सँय्यन्ता , सँव्वत्सरः रूप निष्पन्न होते है। यदि पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति यहाँ निर्बाध माने अर्थात् द्वित्व कार्य के प्रति पर सूत्र की असिद्धता का निषेध न करें तो "अनचि च" - (८.४.४७.) पूर्वसूत्र की दृष्टि में "अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण " - (८.४.५८.) सूत्र असिद्ध हो जाएगा और परसवर्ण असिद्ध होने से अनुनासिक यँ, वँ अथवा लँ को द्वित्व प्राप्त ही नहीं होगा।

प्रकृत परिभाषा के बल से द्वित्व कार्य के प्रति परसवर्ण असिद्ध नही होता अतः अनुस्वार के स्थान पर "सम् के मकार को अनुस्वार" - (८.३.२३.) होकर अनुस्वार को पर सवर्ण होता है। परसवर्ण करने पर अनुनासिक यँ - वँ प्राप्त होते है और बाद में अनचि च से द्वित्व करने पर दो यँ - यँ, और दो वँ - वँ करने वाले रूप प्राप्त होते है।

अणुदित० सूत्र के अण् की यही चरितार्थता है।कतिपय वैयाकरण **" उभौ साम्यासस्य"** - (८.४.२०.) के आधार पर प्रकृत परिभाषा को अनित्य मानते हैं। उनके अनुसार यदि परिभाषा नित्य होती तो "उभौ साभ्यासस्य" सूत्र की आवश्कता न थी। प्राणिणत् आदि प्रयोगों में प्र + अन् + णि + चङ् + त् स्थिति में "चङि" - (६.१.११.) इस सापादिक सूत्र की दृष्टि से त्रिपादी में पठित "णत्व विधायक" - सूत्र (८.४.१९.) असिद्ध न होता। त्रैपादिक सूत्र से अन् के न को णत्व होने के बाद णत्व युक्त धातु को चङि से द्वित्व हो जाता और इष्ट रूप सिद्ध हो सकता था। "उभौ साम्यासस्य" - सूत्र की कोई आवश्यकता न थी।

सूत्रकार "उभौ साम्यासस्य" के द्वारा संभवतः यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" नियम भी अनित्य है। निष्कर्षतः "पूर्वत्रासिद्धम्" - सूत्र की प्रवृत्ति णत्व विधायक सूत्रों में अनिवार्य है।

❀❀❀

एकाच उपदेशे ऽनुदात्तात्
(७.२.१०)

प्रकृत सूत्र के अनुसार उपदेशावस्था में एकाच् और अनुदात्त धातुओं को इडागम का निषेध होता है। सूत्र में पठित एकाच् पद के द्वारा परिभाषाकारो ने एक परिभाषा का संकेत किया है। जिसके अनुसार जहाँ सूत्रो में १. श्तिप् द्वारा, २. शप् के द्वारा, ३. अनुबन्ध युक्त धातु के निर्देश के द्वारा, ४. गण का उच्चारण करते हुए तथा ५. एकाच् शब्द के द्वारा कोई कार्य विहित हो वह कार्य यङ् लुक् में नही होता।

"श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च
यत्रैकाज् ग्रहण चैव पञ्चैतानि न यङ् लुकि"

उपर्युक्त परिभाषा के "यत्रैकाज् ग्रहणं चैव" अंश का ज्ञापन "उपदेशे०" सूत्र के एकाच् पद के द्वारा किया गया है। वस्तुतः धातुपाठ में पठित सभी अनेकाच् धातुएँ उदात्त उच्चरित है। अतः "उपदेशेऽनुदात्तात्" सूत्रारम्भ होने पर भी इडागम का निषेध एकाच् - अनुदात धातुओं को हो जाता। सूत्रकार इससे अवगत होते हुए भी एकाच् शब्द का उच्चारण करते हैं जिससे वे ज्ञापित करना चाहते है कि इडागम का निषेध यङ् लुक में नही होता अर्थात् उपर्युक्त परिभाषा के एकांश में उनकी स्वीकृति है।

भाष्य में इस परिभाषा का उल्लेख नही है। भाष्य पठित न होने से कतिपय वैयाकरण इसे स्वीकार नही करते। उनके मतानुसार सूत्र पठित एकाच् पद का प्रयोजन परिभाषा ज्ञापन के लिए नही अपितु भिन्न प्रयोजन के लिए होता है। यदि "उपदेशेऽनुदात्तात्" सूत्रारम्भ होता तो "हनो वध लिङि (लुङि च)" - (२.४.४२,४३.) सूत्र से हन् धातु को वध आदेश होने पर स्थानिवद्भाव से वध में हन् के अनुदातत्व का अतिदेश हो जाता और वध में भी इडागम निषेध हो जाता। जबकि वध धातु में इडागम अभीष्ट है। अतः वध में इडागम का निषेध न हो जाए एतदर्थ एकाच् ग्रहण चरितार्थ है। वध धातु अनेकाच् होने से उसमें इडागम निषेध नही होता और अवधीत् अवधिष्टाम् आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि स्थानिवद्भाव से जिस प्रकार अनुदात्तत्व रूप धर्म का अतिदेश होता है उसी प्रकार एकाच्त्व घर्म का अतिदेश संभव है। हन् धातु एकाच् है अतः उसके स्थान पर आदिष्ट वध में भी एकाच्त्व धर्म की प्राप्ति अतिदेश के द्वारा हो सकती है। इस आशङ्का का समाधान इस रूप में किया जाता है कि वध धातु सूत्र में (हनो वध लिङि लुङिच) साक्षात् द्वयच्क पठित है। साक्षात् पठित द्वयच्क धातु में अतिदेश के द्वारा एकाच्त्व धर्म को मानना युक्तिसंगत नही है। निष्कर्षतः "एकाच् ग्रहण उपदेश०" सूत्र में चरितार्थ है। उसे अनावश्यक मानकर परिभाषा को ज्ञापित करना अनुचित है।

एकाच् ग्रहण का दूसरा प्रयोजन "श्र्युकः किति" - (७.४.११.) सूत्र में अनुवृति होने से "जागृ" धातु उगन्त होने पर भी इडागम का निषेध नही होता। " श्र्युकः किति " सूत्र से श्रि धातु को और उगन्त धातुओं को कित् प्रत्यय परे रहते इडागम का निषेध होता है। जागृ धातु अनेकाच् है, अतः यह निषेध प्रवृत्त नही होता और जागृ को इडागम होकर जागरित्वत् आदि रूपों की सिद्धि हो जाती है।

"एकाच् उपदेशेऽशिति" सूत्र में एकाच् ग्रहण की यही सार्थकता है।

❀❀❀